सत्साहित्य-प्रकाशन

वेदमंत्रों के प्रकाश में

सात विचार-प्रेरक तथा जीवन-निर्माणकारी आख्यायिकाएं

•

सम्पूर्णानंद

•

१९६६

सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

प्रकाशकीय

प्राचीन कथाओ को आधुनिक शैली मे प्रस्तुत करने का काम मण्डल काफी समय से करता आ रहा है। उसने जातको की चुनी हुई कथाओ के बालोपयोगी सग्रह निकाले है। एक सग्रह वैदिक कहानियो का निकाला है। ये तथा अन्य पुस्तके पाठको ने बहुत पसद की है।

हमे हर्ष है कि उसी शृखला मे एक और मूल्यवान कडी जुड रही है। जैसा कि विद्वान लेखक ने अपनी भूमिका मे लिखा है, इस सग्रह की दो कथाओ को छोडकर शेष वेद के मत्रो पर आधारित है। ये सामान्य कथाए नही है। इनमे पर्याप्त विचार-सामग्री है और कोई-कोई कथा तो जीवन को नई दिशा मे मोडने की क्षमता रखती है।

वेदो के मत्रो मे वर्णित प्रसगो पर बहुत से लेखको ने कहानिया लिखी है, लेकिन इन प्रसगो का अंत कहा है ! कितना भी लिखे, उनका भण्डार खाली नही होता। इन कथाओ का वास्तव मे बडा मूल्य है, क्योकि वे गहरी अनुभूतियो से जन्मी है और उनमें जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की अद्भुत शक्ति है।

इस सग्रह की कथाओ के रचयिता सस्कृत के विद्वान और हिन्दी के सिद्धहस्त लेखक है। उनकी लेखनी बडी प्रभावशाली है। इन कथाओ मे प्राचीन वातावरण उपस्थित करने के लिए उन्होने तदनुरूप भाषा का प्रयोग किया है। सभव है, सामान्य पाठको को भाषा कुछ क्लिष्ट लगे, लेकिन कथाओ का पूरा आनद बिना पुरातन वायुमण्डल के नही लिया जा सकता था।

कहने की आवश्यकता नही कि इस सग्रह की सभी कथाए अत्यन्त रोचक है। साथ ही प्रेरणादायक भी। जो भी पाठक इन्हे पढेगे, लाभान्वित होगे।

प्रत्येक कथा के आरभ मे एक चित्र दे दिया गया है, जो उस कथा मे वर्णित प्रसग की झाकी प्रस्तुत करता है।

—मत्री

भूमिका

जो कहानिया इस सग्रह मे सपुटित है, वे धारावाहिक रूप से [illegible] मे भी निकलती रही हैं । कई पाठको ने इनके सबध मे पत्र भेजने की कृपा की । उन पत्रो से ज्ञात हुआ कि कहानिया लोगो को प्राय पसन्द आईं । कुछ सज्जनो को आश्चर्य भी हुआ । यो तो मैं दीर्घकाल से कुछ-न-कुछ लिखता रहा हू, परन्तु मुझे कहानी-लेखक के रूप मे कोई नही जानता । मुझे स्वयं इस बात मे सन्देह है कि मुझमे कहानी लिखने की वास्तविक योग्यता है । जो हो, एक नया प्रयोग मैने कर ही डाला । कदाचित यह दु सा-हस हुआ । परन्तु एक बार इस प्रकार का विचार मन मे उठने पर मैं चित्त का सवरण न कर सका ।

दो कहानियो को छोडकर शेष का आधार वैदिक वाड्मय है । मेरा विश्वास है कि वेदो मे ऐसे और भी कई प्रसग आये है, जो कथा-कहानी के रूप मे लिखे जा सकते है । वे रोचक भी होगे और शिक्षाप्रद भी । वेद हमारी सस्कृति का मूल है । वैदिक कथाओ को लोक के सामने लाना एक प्रकार का पवित्र कर्तव्य भी है । जो विचार, जो सस्कार, आज हमारे जीवन को प्रभावित कर रहे हैं, उनका आधार वेद मे है और वह आधार बडा उदार है । अकेले महीदास की कथा इस बात का पर्याप्त प्रमाण है ।

दो कहानियां कल्पित है । वेद से उनपर प्रकाश पडता है, परन्तु वे किन्ही वैदिक आख्यानो पर आधारित नही है । उनका आधार यदि कुछ है तो मेरा ज्ञान या अज्ञान । एक मे मृत्यु के उपरान्त की अनुभूति तथा शरी-रोत्तर ग्रहण की चर्चा है और दूसरी मे योगाभ्यासी के अनुभवो का रूपक के व्याज से वर्णन । यह कहानी आज से लगभग २६ वर्ष पहले जेल मे लिखी गई थी । मैं कहा तक इन विषयो पर कुछ लिखने की पात्रता रखता हू, इस सबध मे कुछ न कहना ही उचित होगा । यदि मैं अनधिकार चेष्टा का अपराधी हू तो क्षमा की ही आशा कर सकता हू ।

राज भवन, जयपुर
७ फरवरी, १९६६

अनुक्रम

वेद-मंत्रों के प्रकाश में

सत्येन पंथाः विततो देवयानः.....

१ | सत्येन पन्था

वेधा के पुत्र हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकु वश मे बडे प्रतापी राजा हो गये है। आगे चलकर रामचन्द्रजी ने भी उन्हीके वश मे जन्म लिया था। हरिश्चन्द्र की सौ पत्निया थी, परन्तु पुत्र नही था। उनके साथ पर्वत और नारद नाम के दो विद्वान रहते थे। उन्होने एक दिन नारद से पूछा कि मनुष्य पुत्र की प्राप्ति को इतना महत्व क्यो देता है ? नारद ने विस्तार के साथ इस सम्बन्ध की सभी शास्त्रीय मान्यताए समझाई। पुत्र न होने से हरिश्चन्द्र योही खिन्न रहते थे। अब नारद की बातो को सुनने के बाद उनका उद्वेग और बढा। उन्होने पुत्र-प्राप्ति का उपाय पूछा। नारद ने परामर्श दिया कि आप वरुण की उपासना करें। वह तुष्ट हो तो आपको पुत्र-लाभ होगा।

राजा ने अपने कुल-पुरोहित वसिष्ठ के द्वारा वरुण को प्रसन्न किया। उन्होने पुत्र-दान का वचन दिया, पर यह कहा कि मैं जन्म के बाद ही लडका वापस ले लूगा। राजा ने यह बात स्वीकार कर ली।

काल पाकर पुत्र का जन्म हुआ। उसका नाम रोहित रखा

गया। वरुण ने समझौते के अनुसार लड़का मांगा, परन्तु राजा के लिए यह काम सुकर नही था। पुत्र का मुह देखना और फिर उसे तत्काल काल को सौप देना हँसी-खेल नही है। उन्होने टालने के लिए कहा कि दस दिन के पहले तो पशु का बच्चा भी बलि नहीं दिया जाता। इसे कम-से-कम दस दिन का होने दीजिये। वरुण ने मान लिया। वे दस दिन भी पूरे हुए। अब राजा ने यह कहा कि बिना दात के पशु की भी बलि नही दी जाती। अभी तो इसके दांत भी नही हैं। यह अभेद्य है। वरुण दात निकलने तक भी चुप रहे। जब दात निकले तो राजा ने कहा कि इन दातो के गिर जाने पर इसके असली दात तो निकल आने दीजिए। वरुण ने यह बात भी स्वीकार कर ली।

राजा का इस प्रकार एक के बाद दूसरा बहाना करना अस्वाभाविक बात नही थी। सतान का मोह सबको होता है। जब उन्होने वरुण से अनुबंध किया, तब भी अपने मन में शायद यही सोचा होगा कि किसी-न-किसी उपाय से बच्चे को बचा लूगा। ऐसी इच्छा होना सर्वथा मानव-प्रकृति के अनुरूप था, परन्तु क्षात्र धर्म के विपरीत था। सन्तान के मोह में हरिश्चन्द्र अपने क्षत्रियोचित कर्त्तव्य से च्युत होते जा रहे थे। सच तो यह है कि उनको आरम्भ मे ही ऐसी कड़ी शर्त पर सन्तान नही स्वीकार करनी थी। जोहो, एक-पर-एक बहाना होता गया। मुण्डन हुआ, यज्ञोपवीत हुआ तथा विद्यारम्भ हुआ। अन्त में वरुण के धैर्य का भी अन्त हो गया। राजा को जलोदर का रोग हुआ। फिर भी उन्होने वसिष्ठ के द्वारा वरुण से अनुनय-विनय किया। अन्त मे वरुण ने यह स्वीकार कर लिया कि यदि कोई

व्यक्ति अपनी इच्छा से अर्थात् बिना किसी दवाव के, अपना लडका दे दे तो मैं रोहित की जगह उसको स्वीकार कर लूगा।

इस वात की कम ही सम्भावना थी कि कोई व्यक्ति इस प्रकार अपने लडके का प्राण देने को तैयार होगा, परन्तु इस पृथ्वी पर हर प्रकार के मनुष्य रहते है। अजीगर्त्त नाम का एक ब्राह्मण था। उसके तीन लडके थे—शुन. पुच्छ, शुन शेफ और शुन लोगूल। उसने अपनी पत्नी से मत्रणा की। शुन पुच्छ सवसे वडा था। यह आशा थी कि थोडे दिनो मे वह कमाने योग्य हो जायगा। अत. उसको देना तो पिता ने स्वीकार नही किया। शुन· लोगूल सवसे छोटा था। मा ने कहा, "यह मेरी अन्तिम सन्तति है। इसे मैं नही दे सकती।" मा-वाप दोनो ही विचले पुत्र शुन· शेफ को देने के लिए तैयार हो गये। सौ गऊ लेकर वह लडका हरिश्चन्द्र के हाथ वेच दिया गया।

लडके को विधिवत् वरुण के हाथ सौपने का आयोजन किया गया। इसके लिए यज्ञ रचाया गया। जव बलिय यूप अर्थात् बलिदान के खम्भे मे वलि पशु के रूप मे शुन शेफ को वाधने की वात आई तो कोई व्यक्ति इस नृशस काम को करने के लिए तैयार नही हुआ। सौ गऊ लेकर अजीगर्त्त ने यह काम भी किया। अन्त में बलि देने का समय आया। लडके का सिर काटना था। एक तो निरपराध भोला बालक, दूसरे ब्राह्मण कुमार, इस जघन्य कृत्य के लिए भी कोई आगे नही बढा। वालक का पिता सौ गऊ लेकर इसके लिए भी तैयार हो गया।

वालक शुन शेफ की उस समय की मानस-अवस्था का अनुमान किया जा सकता है। खम्भे मे बधा खडा है। कुछ ही

क्षणो में सिर धड़ से अलग कर दिया जायगा। उसने मन-ही-मन देवगण को पुकारा। प्रजापति, अग्नि, विश्वेदेव, इन्द्र सभी की शरण मे गया। वह वरुण को सौपा जा चुका था। उनको भी अपना मूक क्रन्दन सुनाया। देवगण का आसन हिल उठा। उसकी पुकार सुनी गई। तत्काल कही से घूमते हुए महर्षि विश्वामित्र वहा आ गये। उन्होने पूछा, "यह सब क्या हो रहा है?" जब उन्होने सारा वृत्तान्त सुना तो उनके क्रोध का पारावार न रहा। मनुष्य का वध जैसा नीच काम धर्म के नाम पर किया जाय, इसकी उन्होने तीव्र भर्त्सना की। जो ऋषि-मुनि, पुरोहित वहा एकत्र थे, सब पर वाग्-बाण से प्रचड प्रहार किया। हरिश्चन्द्र को धिक्कारा। एक तो वह बार-बार झूठ बोले, दूसरे अपने लड़के को बचाने के लिए एक दूसरे निरपराध बालक का प्राण देने जा रहे थे। वरुण को भी उन्होने नही छोड़ा। विश्वामित्र के तप के सामने कौन ठहर सकता था? देव और मनुष्य सभी तप से जीते जा सकते है। वरुण को अपना आग्रह छोड़ना पड़ा। शुनः शेफ खोल दिया गया। यज्ञ वही बन्द हो गया। अजीगर्त्त ने उसको अपने साथ ले जाना चाहा और अपने लोभ के प्रायश्चित्त-स्वरूप उसको यह लालच दिया कि जो मुझको तीन सौ गौये मिली है, वे सब तुमको दे दूंगा, तुम्हारे दोनों भाइयों को एक भी नही दूंगा। पर शुनः शेफ उस राक्षस के साथ जाने पर राजी नही हुआ। विश्वामित्र उसे अपने साथ ले गये।

विश्वामित्र के साथ जाकर शुनः शेफ की कायापलट गई। विश्वामित्र के मधुच्छन्दा आदि सौ पुत्र थे। पिता के कहने से सब लड़कों ने शुन. शेफ को अपने-से ज्येष्ठ मान लिया। इस

इमां वाचं कल्याणी
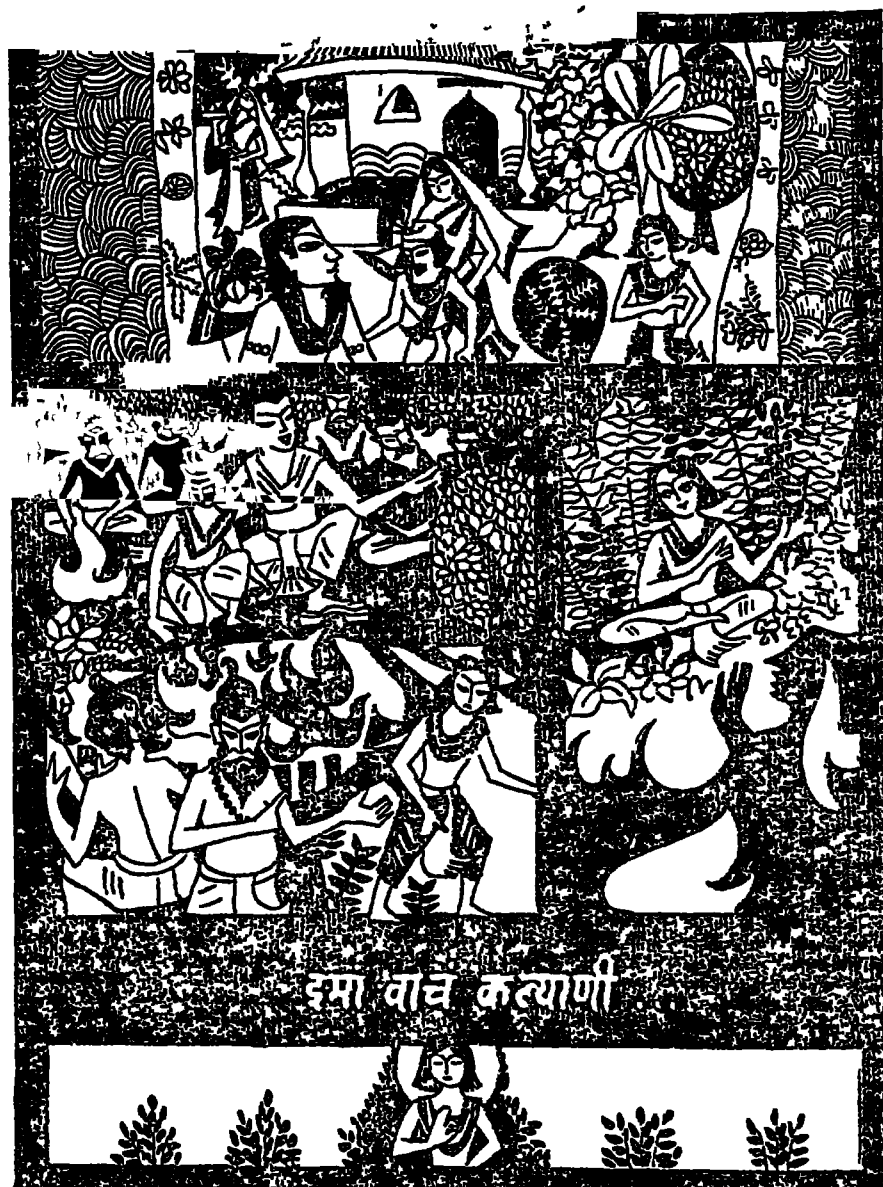
था। यही महीदास था। इतरा की सन्तान होने से इसे बहुधा 'ऐतरेय' कहा करते थे।

एक बार आश्रम में बहुत बड़े उत्सव का आयोजन हुआ। उसमें सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से विद्वान और तपस्वी आये। उनके आतिथ्य का समुचित प्रबन्ध किया गया। विशाल सभा-मडप सजाया गया। उसमें दर्शन, धर्म और दूसरे महत्वपूर्ण विषयो पर विचार-विमश होना था।

सभा आरम्भ हुई। उसी समय कुलपति का बडा लड़का भी उनके पास जाकर बैठ गया। महीदास भी साथ मे चला गया। इससे वह बहुत क्षुब्ध हुए। यों तो सभी जानते थे कि उन्होंने घर में उपपत्नी रख छोड़ी है और उससे सन्तान भी है, परन्तु भरी सभा में इस बात का विज्ञापन उनको अभीष्ट नही था। उन्होने महीदास को डाटकर भगा दिया।

बच्चे की समझ में कुछ नही आया कि ऐसा क्यो हुआ। आज यह पहला ही अवसर था जबकि उसके साथ ऐसा व्यवहार हुआ था। बच्चों के नन्हे हृदय पर मान-अपमान का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। महीदास फूट-फूटकर रोने लगा। रोते-रोते मा के पास पहुंचा और उससे सारा वृत्तान्त कहा। वह बेचारी भला क्या सान्त्वना देती! जन्म से शूद्रा थी। जानती थी कि शूद्रों के साथ कैसा व्यवहार होता है। उनसे काम लिया जा सकता है, परन्तु समाज में उनका स्थान सदा छोटा माना जाता था और सब बात चुपचाप सह लेनी पड़ती थी। उसने बालक को चुप कराने का प्रयत्न किया और कहा, "बेटा, हम लोगों के भाग्य मे यही लिखा है। हमको केवल पृथ्वी माता शरण दे

उधर सभा समाप्त होने पर उसके पिता सम्भवतः उसको ढूंढने निकले होगे। लोक-लज्जा के कारण उन्होने बच्चे का तिरस्कार किया था, पर भीतर से दुखी तो रहे ही होगे। जो हो, ढूढ़ते-ढूढते पिता और दूसरे लोग उस जगह पहुचे, जहां महीदास बैठा हुआ था। पर महीदास का व्यक्तित्व ही अब वदल चुका था। उसके तेज के बल से उसका शरीर जाज्वल्यमान हो रहा था। समाधि में उसने ऊची भूमिकाओ को पार किया था। इसी छोटे वय में आत्म-साक्षात्कार कर लिया था। परमात्मा की पराशक्ति उसके सामने भू-देवता के रूप मे प्रकट हुई और उससे वर मागने को कहा। उसने कहा कि मुझे वेद के ऐसे अंश बताइये, जिनका मेरे पहले किसी ऋषि-मुनि को ज्ञान न रहा हो। देवी ने उसकी इच्छा पूरी की। फिर वह समाधि से उठा। उठने पर उसकी वाणी मे दूसरा ही ओज था। शूद्र-पुत्र बालक महीदास अब ब्राह्मण और ऋषि महीदास हो गया था।

वेद ईश्वरीय ज्ञान का अनन्त और अखण्ड भडार है। उसका कोई पारावार नही है। समय-समय पर उसका कुछ अश किसी ऋषि विशेष के द्वारा जगत् मे प्रकट होता है। महीदास के द्वारा वेद का जो भाग प्रसिद्ध हुआ, उसे ऋग्वेद की 'ऐतरेय शाखा' कहते है। महीदास के नाम से सम्बद्ध 'ऐतरेय ब्राह्मण' नाम का ग्रथ भी है, जिसमें यज्ञादि के कितने विषयो का स्पष्टीकरण किया गया है। इसी ग्रन्थ का एक खड वह 'ऐतरेय उपनिषद' है, जिसमें आत्म-ज्ञान का विवेचन है।

महीदास को आत्म-स्वरूप का जो दर्शन हुआ, उसकी चर्चा सभी ब्रह्म-वेत्ताओ ने की है। संक्षेप में कहे तो उसका सार

यतो वाचो निवर्तंते ...

३ | यतो वाचो निवर्तंते...

चेतनादित्य कायाकोट का राजा था। उसके शासन मे सारी प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। कलह और संघर्ष का कही नाम न था, सबका एक-दूसरे के साथ सहयोग था, सब एक-दूसरे के साथ सौहार्द के दृढ सूत्र मे बधे थे। महामत्री बुद्धिवर्धन और अक्षिवर्म्मा जैसे दसो सामन्तो की दूर-दूर तक ख्याति थी। इनके रहते राजा को कुछ भी अलभ्य न था। ऐसे सुयोग्य व्यक्ति को जामाता बनाने के लिए बडे-बडे सम्राट उत्सुक थे। रूप-यौवन-विद्या-सम्पन्न कन्याओ के साथ-साथ राज्य और वैभव भी न्यौछावर करने को तैयार थे, परन्तु चेतनादित्य ने कही भी अपनी स्वीकृति न दी। उसने सुन रखा था कि किसी दूर देश मे स्वरूपवती नाम की कुमारी रहती है और यह सकल्प कर लिया था कि या तो उससे विवाह होगा या क्वारा ही मर जाऊगा। जो हो, और लोगो को इन्कार कर देना तो अपने हाथ की बात थी, पर स्वरूपवती से भेंट होना तो बहुत दुष्कर था। इतना ही ज्ञात था कि उसके नगर का नाम आनन्दग्राम है, पर वह ग्राम किधर और कितनी दूर है, इसका पता न था। उसने यह घोषणा की कि जो कोई आनन्दग्राम का पता बतलायेगा, उसको पुरस्कार दिया जायगा। पुरस्कार भी थोडा न था, कुमार अपना सर्वस्व देने को प्रस्तुत था। ज्यो-ज्यो देर होती थी, त्यो-त्यो उसका सवेग बढता जाता था। पुरस्कार के लालच मे

बहुत लोग जानकार बनकर आये। किसीने पूर्व जाने को कहा, किसीने पश्चिम, किसीने कोई जड़ी-बूटी दी, किसीने वशीकरण का अनुष्ठान करके स्वरूपवती को आकृष्ट करना चाहा। किसीने कहा कि तुम प्रेम से उसके नाम की रट लगाते रहो, उसका कल्पित चित्र—कल्पित इसलिए कि बिना देखे यथार्थ चित्र बन नही सकता था—निरन्तर आंखों के सामने रखो, उसीका यशोगान किया करो, वह आप ही आविर्भूत होकर आ मिलेगी। उसने यह सब किया, पर कुछ हाथ न आया। नैराश्य बढ़ता गया। कभी-कभी जी मे आता था कि ऐसे जीने से तो मरना ही भला।

एक दिन वह इसी उधेड़-बुन में डूबा हुआ अपने नगर के पास की सडकों पर घूम रहा था कि यकायक उसकी दृष्टि एक पगडडी पर पड़ी, जो उत्तर की ओर जाती थी। उसने लोगों से पूछा कि यह कहा जाती है। कुछ वृद्धों ने बतलाया कि हमने सुना है, यह आनदग्राम की ओर जाती है, परन्तु इसपर शायद ही कोई चलता दीख पड़ता है। कुछ लोग साहस करके जाते भी हैं तो थोड़ी ही दूर से लौट आते है। कहा जाता है कि मार्ग में तपोवन नाम का बड़ा भयानक जंगल है। राजा तो जीने से ऊब ही चुका था और सब मार्गों की परीक्षा भी कर चुका था। वह इस पगडडी पर चल पड़ा। धर्म्मा नामक प्यारे घोड़े पर सवार था। साथ में इतना सामान ले लिया, जो यात्रा के लिए आवश्यक पाथेय समझ में आया। एकाकी चलना था। बीच-बीच में कई पगडडियां दाए-बाए फूटी थी। कई बार बहक गया, फिर सीधे मार्ग पर आया। चारो ओर सचमुच भयावह दृश्य था। लोगो ने जो कुछ कहा

था, उसमे कुछ भी अतिशयोक्ति न थी। कही ऐसे गगनचुबी पेड थे कि उनमे से छनकर सूर्य की किरणे भूतल को छू पाती थी, कही काटो से देह छिली जाती थी, कही दहकता मरुस्थल था, कभी-कभी झझा, कभी दावानल, कभी मूसलाधार वृष्टि। बनैले पशुओ की दहाड़ कलेजा हिला देती थी। रह-रह कर घर का शान्त वातावरण पीछे खीचता था। कई बार पाव लौटे, फिर मुडा और आगे बढा। पगडडी की लीक तो थी, उसीका सहारा था, परन्तु वह बराबर पतली होती जाती थी। जो सामान लेकर चला था, उसको लेकर आगे बढना असम्भव था। धीरे-धीरे उसको छोडता चला। भूख-प्यास, गर्मी-सर्दी के कष्ट झेलने पडे, पर हिम्मत न हारा। पशु-पक्षी भी उसके प्रयास पर किल-कारिया मारते थे, यह सब भी सहा। इस दशा मे यदि ढाढस बधानेवाली वस्तुएं थी तो दो—उसका घोडा और उसके हृदय की लगन। भगवान् का नाम लेते-लेते जगल का अत हुआ। एक नगर दीख पडा। पूछने पर वहा के निवासियो ने बताया कि इसे श्रद्धापुरी कहते हैं। यह आनन्दग्राम का उपनगर है। उन्होने उसके साहस की प्रशंसा की, क्योकि तपोवन से पार निकल आना सबके बूते का काम नही है।

यहा रहकर जब उसका चित्त कुछ स्वस्थ हुआ तो उसको फिर वही धुन समाई। उपनगर तक पहुच जाने से आशा तो बध ही गई थी। उसने लोगो से पूछताछ आरम्भ की। अनु-सन्धान करने पर इतना ज्ञात हुआ कि नगर के मुख्य फाटक पर वाणी देवी का पहरा है। वहा उन लोगो का जमघट रहता है, जो स्वरूपवती के प्रेम मे तपोवन के संकटो को झेलने मे समर्थ होते है।

चेतनादित्य भी वहा पहुंचा। वाणी देवी का दर्शन करना सुकर न था। कई ड्योढ़ियां बीच में पड़ती थी। बरसों प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। कितने तो हताश होकर वही से लौट जाते थे। चेतनादित्य इनमे न था। वह धुन का पक्का था। आखिर एक दिन दरबार में प्रवेश हुआ। वाणी देवी की आकृति का क्या कहना! सुन्दर शरीर और फिर जब बोलती थी तो मोती झड़ते थे। चारों ओर झुड-के-झुंड प्रेमी उनके स्वनपीयूष का पान कर रहे थे। इसकी ओर भी देखकर वह मुस्करायी, इसके अध्यव-साय की प्रशसा की। यह पक्का दरबारी हो गया। ऐसा कोई विषय आकाश-पाताल मे न था, जिसकी चर्चा न होती। मुह से प्रश्न निकलने न पाता कि उत्तर मिल जाता। पर इसके चित्त से असन्तोष का घुन निकलता न था। कारण यह था कि यह जब-जब स्वरूपवती की बात छेड़ता तब-तब वह किसी-न-किसी बहाने विषय पलट देती। आखिर जब यह अधीर हुआ तो उन्होंने वहां का भी कुछ वृत्तान्त सुनाया। आनन्दग्राम का कुछ वर्णन किया। स्वरूपवती तक पहुंचने मे जो बाधाए पड़ती है, वे सुझाई। स्वरूपवती की कुछ रूपरेखा बताई। जब यह इसके आगे पूछता तो वह कह देती कि भला ऐसी बातें शब्दों में समझाई जा सकती हैं। तुम मुझे मिश्री का स्वाद तो समझाओ। यह बेचारा अवाक् हो जाता। कुछ दिन रहने के बाद उन्होने इससे यह प्रस्ताव किया कि तुम मुझको वरण करो। एक बार तो उसका जी भी लालच मे आ गया, फिर संभल गया। उनसे हाथ जोड़कर निवेदन किया कि आपने मेरी आखो से मिथ्या ज्ञान का तिमिर दूर किया है, अतः मेरे लिए पूज्य हैं, मातृस्थानीया है,

मैं आपको पत्नी नही बना सकता। इसपर वाणी कुछ रुष्ट-सी हुई। उन्होने कहा, "तुम मूर्ख हो। देखो तो कितने मनुष्य मेरे जरा से कृपा-कटाक्ष के लिए तरसते रहते है और तुम मेरा यों तिरस्कार करते हो !" यह कहकर वह उसे एक कमरे मे ले गईं। उसमे बहुत-से अबे बैठे थे। वाणी बोली, "देखो, यह भी तुम्हारी भाति तपोवन को पार कर आये थे, पर मेरा निरादर करके ग्राम मे घुसना चाहते थे। परिणाम यह हुआ कि अन्धो की भाति इधर-उधर टकराते रहे। अब फिर मेरी शरण में आये है।" चेतनादित्य इसपर भी दृढ रहा। उसने फिर निवेदन किया कि माता, मैं आपका निरादर नही कर सकता। आपने जो बातें बतलाई हैं, वे मुझे भूल नही सकती। आपके उपदेश का मुझे आनन्दग्राम मे पग-पग पर काम पडेगा। पर आप अब मुझे यहां न रोकें, भीतर जाने दे। वाणी प्रसन्न हो गई। उन्होने कहा, "पुत्र, यह जिसे लोग फाटक समझते हें, वस्तुत फाटक नही है, केवल फाटक का चित्र है। जो अनधिकारी है, वे यही रुक जाते हें। वास्तविक प्रवेश-द्वार गुप्त है। उसकी कुजी मेरे पास नही है।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो,
न मेधया न बहुना श्रुतेन।"[1]

—तुम जिस पदार्थ को ढूढते हो, वह न तो प्रवचन से लभ्य है, न मेधा से, न बहुत पढने-लिखने से।

मैं तुम्हे आशीर्वाद देती हूं, तुम उसे प्राप्त करोगे। भीतर जाने पर मेरी कही बातो को बराबर ध्यान मे रखना।

चेतनादित्य प्रणाम करके विदा हुआ। उसकी दशा प्राय.

---

[1] मुण्डकोपनिषद् ३, २, ३

अब भी वैसी ही थी, जैसी श्रद्धापुरी मे आने के समय थी। आनन्दग्राम निकट था, पर उतना ही दूर था। उसको युक्ति सूझ न पड़ती थी।

एक दिन योंही भटका-भटका फिर रहा था कि उसे दूर से किसीके गाने का स्वर सुनाई पड़ा। पास गया। देखा, एक तरुण संन्यासी कुछ गुनगुना रहा है। इतना स्पष्ट सुन पड़ा—"मन मेरा विहरत आनन्द कानन मे।" सन्यासी का हँसता चेहरा, उसका मधुर कण्ठ, गाने मे आनन्द शब्द—चेतन के लिए ये सभी बाते आकर्षक थी। वह स्वामीजी को साष्टांग प्रणाम करके बैठ गया। कुछ देर के बाद वह उससे अभिमुख हुए। उसका नाम, पता और वहा आने का कारण पूछा। वह स्वरूपवती से मिलने की इच्छा सुनकर खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "तुम पागल हो! न जाने कितने जीवन इस फेर मे नष्ट हुए। कैसी स्वरूपवती? कैसा उसका प्रेम? तुम्हें समझाने वाला कोई समझदार मित्र भी न मिला। युवा पुरुष हो, क्यो अपनी मिट्टी खराब करते हो? अभी कुछ नही बिगड़ा, घर लौट जाओ।" स्वामीजी यों भर्त्सना तो कर रहे थे, पर न जाने क्यों, चेतन का चित्त यह कहता था कि वह उसकी खोज मे सहायक होगे। वह उनका नाम सुन चुका था। उनको देशिकेन्द्र या देशिकजी कहते थे। बस्तीवाले उन्हे पागल समझते थे। जवान आदमी, कोई उद्यम नही, किसीने कुछ दिया, खा लिया, नही तो यों-ही रह गये। चेतन ने लाख मना करने पर भी उनके यहां आना-जाना न छोड़ा। आखिर एक दिन उन्हें उसपर दया आ ही गई। उन्होने ग्राम में प्रवेश करने के चोर दरवाजे का पता

उसे बता दिया। दरवाजा ऐसा था कि बिना बताये अपने प्रयत्न से हजार जन्म में भी ढूढे न मिलता। उन्होंने उसे एक लकड़ी दी, जिसका नाम विरत था। कडी आज्ञा थी कि इसे हाथ से न जाने देना।

इस द्वार पर रक्षा का प्रबन्ध साधना देवी के हाथ मे था। तपस्विनी का वेष, हाथ मे त्रिशूल। चेतन को आते देख उन्होने द्वार खोल दिया और सकेत करती हुई बोली, "वत्स, तुम्हारा कल्याण हो। तुमको यह द्वार मिल गया, इसके लिए बधाई देती हू, पर अभी बडी लबी यात्रा है। देखो, किसी प्रलोभन मे पड-कर रुक न जाना। थोडी देर चलने के बाद तुमको आगे के लिए पथ-प्रर्दशक मिल जायगा। हा, अपने घोड़े को यही छोड़ जाओ। यहां इसकी गति नही है।"

चेतन एक बार तो नई जगह मे अपने को अकेला पाकर घबराया, फिर आगे बढा। चित्त मे प्रसन्नता भी थी। एक दिन वह भी आ गया कि आनन्दग्राम के भीतर उसका प्रवेश हो गया। पर उसको अधिक सोचने का अवसर न मिला। चारो ओर से उसकी इन्द्रियो पर दिव्य प्रहार होने लगे। भूमि क्या थी, मखमल-सी कोमल, चादनी-सी शीतल। मादक गन्ध मे झकोले आ रहे थे। ऐसा परिमल अपने देश मे उसे कब नसीब हुआ था। जगह-जगह पर मधुधारा बह रही थी। अपने पिता के महलो मे उसने भाति-भाति के झाड़-फानूस देखे थे, बिजली की बत्तिया देखी थी, पर यहा के झलझलाते प्रकाश के आगे सब फीका पड गया और फिर गान और वाद्य का तो वह समा बंधा था कि चित्त बन्दी हो-हो जाता था। एक-एक पत्ता ताल पर हिलता

था, हवा की हर सांस में लय और मूर्छना थी। आंख गड़ाकर जो देखा तो चेतन को प्रतीत हुआ कि वह वहां अकेला न था। उसकी ही भाति कई प्रेमी जीव वहा थे, पर वे इधर-उधर बैठे इस रस में सरावोर थे। उनसे आगे वढ़ा ही न जाता था। उनमें कुछ ऐसे भी थे, जो वहां के कंकड़-पत्थरों को, जो वस्तुतः मणि-माणिक थे, वटोरकर दिखलाने के लिए बाहर जाना चाहते थे। साधना देवी उनके लिए द्वार खोल देती थी और दो बूंद आंसू गिराकर चुप रह जाती थी। चेतन का चित्त भी विचलित हो उठा, परन्तु साधना की वातों की सुध आ गई और आगे वढ़ा। धीरे-धीरे प्रकाश की जगह अधेरा बढने लगा। गाने-वजाने की जगह भैरव गर्जन ने ली, माथे में चक्कर आ गया, पसीना छूट गया, शरीर काप उठा, गला रुंध गया। पाव पीछे को मुड़े कि यकायक जैसे देशिकजी सामने खड़े होकर अभय मुद्रा से उसे देख रहे हों, ऐसा प्रतीत हुआ। संभल गया, चित्त कुछ स्थिर हुआ, दात पीसकर आगे बढ़ा। सामने एक सरोवर था। उसमें एक कमल खिला था। कमल की कणिका में एक नागिन सो रही थी। चेतन की आहट पाकर उठ वैठी और कमल से उतर कर आगे की ओर बढ़ी। उसे पथ-प्रदर्शक मानकर चेतन भी पीछे हो लिया।

आगे-आगे वल खाती नागिन, पीछे-पीछे चेतन। उसको जो-जो अनुभव हुए, उनका वर्णन करने चलूं तो कथा का कलेवर वहुत वढ़ जायगा। और फिर वाणी देवी के शब्दों में मिश्री का स्वाद तो दूसरे को समझाया ही नही जा सकता। आनन्द-ग्राम के आनन्दो को बताने की योग्यता किसने पाई है ! अब भय

तो पीछे छूट गया था। पदे-पदे नया दृश्य, क्षण-क्षण नया कौतुक। चेतन अकेला न था। उसने देखा कि उसकी भाति और भी बहुत से यात्री नागिनो के पीछे आगे बढ रहे है। सबके हाथो मे उसकी ही भाति एक-एक लकड़ी है। यो तो इस दुनिया मे सबकुछ विचित्र था, परन्तु दो बातो की ओर चेतन का ध्यान विशेष रूप से गया। एक तो यह कि मार्ग के दोनो ओर कुछ-कुछ दूर पर बड़े सुन्दर स्थान आते थे। हर स्थान पर एक देवी मिलती थी। प्रत्येक देवी रूप और तेज की प्रतिमा थी। सबके साथ सहेलिया थी। ये सहेलिया उधर जानेवालो को वहा रुकने के लिए निमन्त्रित करती थी और कितने ही यात्री देवी को स्वरूपवती मानकर वहा रुक जाते थे। जब वह देवी की ओर बढते तो उनके हाथ की लकड़ी ले ली जाती थी। लकड़ी के हटते ही उनकी बुद्धि ठगी-सो हो जाती थी। वह वही रुक जाते थे। इस प्रकार पथिको की सख्या छीजती जाती थी, और तब देशिकजी का बताया हुआ यह उपदेश स्मरण हो आया

स्थान्युपनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं,
पुनरनिष्ट प्रसंगात् [1]

—स्थानो के अधिष्ठाताओ के निमन्त्रण पर न तो सग करना चाहिए, न अभिमान से मुस्कराना चाहिए। (उभयत) पतन का डर है। दूसरी विचित्र बात यह थी कि प्रत्येक पथिक यह कहता था कि उसको देशिकजी ने लकड़ी दी और भीतर प्रवेश कराया, परन्तु कोई उनको गृहस्थ बताया था कोई सन्यासी, कोई बाल कोई वृद्ध, कोई हिन्दू कोई मुसलमान, कोई अपढ़ कोई पडित,

[1] योगदर्शन ३, ५१

कोई पुरुष कोई स्त्री, कोई ब्राह्मण कोई चांडाल। चेतन की समझ में यह बात न आई कि एक ही देशिकजी ने ये सब रूप धारण किये थे या इन नाम के अनेक व्यक्ति हैं।

चलते-चलते एक बहुत तग गुफा में नागिन घुसी। चेतन उसके पीछे था। आगे बराबर पहाड़ की चढ़ाई थी और बड़ा चक्करदार मार्ग था। अन्त में एक जगह, जो पहाड़ के शिखर का मध्य भाग प्रतीत होता था, नागिन ठमक गई। चेतन ने देखा, सामने सोने का फाटक है। उसके द्वार पर रत्न-जटित सिंहासन पर एक देवी विराजमान है। जो शब्द पहले की देवियों की उपमा बताने में ही हार चुके है, वे यहां भला क्या पार पा सकते हैं। देवी के सामने सैकड़ों प्रेमी नतमस्तक खड़े थे। इनमें से कुछ के नामों से चेतन परिचित था। उसके देश में उनकी बड़ी ख्याति थी। वह उनमे से एक महानुभाव के पास, जो बड़े शान्त प्रकृति के ओजस्वी व्यक्ति दीख पड़ते थे, गया और उनको प्रणाम करके पूछा, "भगवन्, यह देवी कौन है ?" उन्होंने उत्तर दिया, "यह वही स्वरूपवती है, जिनकी खोज हमको-तुमको यहां तक लाई है।" चेतन ने कहा, "फिर आप लोग फाटक के बाहर क्यों बैठे हैं ? भीतर क्यों नही चलते ?" उन्होंने उत्तर दिया, "भीतर-बाहर मे भेद मानना भ्रम है। जो बाहर है, वही भीतर है। अन्तर यह है कि जो भीतर जाता है, वह खो जाता है। अब तुम्हीं बतलाओ, जब अपनापन ही न रहा तब कौन किससे प्रेम करेगा, कौन आनन्दग्राम का सुख भोगेगा ?" यह बात चेतन को भी ठीक जंची। वह भी वहीं लकड़ी रखकर बैठनेवाला ही था कि यकायक उसे वाणी देवी की एक बात याद हो आई।

उन्होने कहा था कि अत.पुर के द्वार पर माया देवी का पहरा है। उनके दो रूप हैं। बाहर से देखनेवालों के लिए वह मोहिनी अविद्या है,पर जो अपने "मैं हू" भाव की आहुति देकर भीतर जाने पर तुल जाता है, उसके लिए वह मोहहंतृ विद्या बन जाती है। चेतन सभला। लोग रोकते ही रहे, पर वह साहस करके भीतर घुसा। नागिन वही देवी के चरणो मे अतर्द्धान हो गई। भीतर आकर चेतन को देवी के विद्यारूप के दर्शन हुए। वह रूप कैसा था, मै कैसे कहू! जिसने देखा है, वही जानता होगा। विद्या की अनन्त गाभीर्यमयी, अनन्त प्रसादमयी और अनन्त तेजोमयी दृष्टि के सामने आते ही चेतन सचमुच अपने को भूल चला। उसने देवी को प्रणाम किया। देवी ने अपना वरद हाथ उसके मस्तक पर रक्खा। उस कोमल कर का स्पर्श होते ही चेतन मे विचित्र स्फूर्ति दौड गई। देवी ने आगे की ओर सकेत किया। चेतन उधर बढा।

सामने एक के पीछे एक, सात रेशमी पर्दे थे। चेतन इनके सम्बन्ध मे सुन चुका था—**तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।** पर्दो का झीनापन उत्तरोत्तर बढता जाता था। पर्दो के भीतर से दीख पड़ता था कि सामने स्वरूपवती सिहासन पर बैठी है। उसके शरीर के लोकोत्तर सौकुमार्य, दीप्ति, सौन्दर्य, लावण्य का चित्त से भी धारण न हो सकता था, फिर भाषा बेचारी की वहा कहा पहुच होती!

चेतन जिस पर्दे के पास पहुचता था, वह आप-से-आप हट जाता था। ज्यो-ज्यों पर्दे हटते जाते थे त्यो-त्यों स्वरूपवती का रूप और स्पष्ट होता जाता था, पर विलक्षण बात यह थी कि चेतन

को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वह स्वयं स्त्री होता जाता है। जब दो-एक पर्दे और रह गये तब एक और विलक्षण बात प्रतीत होने लगी। स्वरूपवती का शरीर पुरुष-जैसा प्रतीत होने लगा। अन्तिम पर्दा आया। उस समय तक दोनों में कुछ ऐसा परिवर्तन हो चुका था कि यह कहना कठिन था कि कौन चेतन है और कौन स्वरूपवती है। पर्दे के पास देशिकजी खड़े थे।

चेतन ने अन्तिम कदम बढ़ाया। पर्दा हटा। स्वरूपवती उसकी ओर बढ़ी। दोनों मिले। चेतन का स्वरूप से सयोग हो गया। फिर जो देखा गया तो न चेतनादित्य था, न स्वरूपवती थी, न देशिकेन्द्र थे। बस, शून्य में एक निश्चल दीपशिखा जल रही थी। यह विवाह कहां हुआ? यहा, वहां और सर्वत्र।

विवाह कब हुआ? तब, अब और सदैव।

विवाह होने पर जिस आनन्द का अनुभव चेतनादित्य ने किया, वह कैसा था? वह स्वयं तो उसे क्या व्यक्त करता, भला अपने आपकी अनुभूति कैसे हो और किस प्रकार दूसरों तक पहुंचाई जाय! वहां अकेला एक ही तो था। दूसरा था भी कौन? और फिर इस सम्बन्ध में यह कहा गया है:

यतो वाचो निवर्तन्ते
अप्राप्य मनसा सह।[1]

—जहां बुद्धि और वाणी दोनों की गति नही है।

फिर भी कभी देशिकजी ने इन शब्दों में उसका वर्णन किया था:

---

[1] तैत्तिरीय उपनिषद् २, ४

आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि ।[१]

और

आनन्दोब्रह्मेति व्यजानात् ।[२]

—आनन्द का जो परम समुद्र है वह मैं हू । और आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जाने । ०

---

[१] मैत्रेयोपनिषद् १, १५ [२] तैत्तिरीय उपनिषद् ३, ६

आत्मना विंदते वीर्यम् ...

४ | आत्मना विंदते वीर्यम्...

कलह तो सदैव बुरा होता है, परन्तु गृह-कलह के बराबर दूसरा कोई झगडा नही होता । घर वालो मे प्रेम होना चाहिए, पर जब सहज-स्नेह द्वेष मे बदल जाता है तो उस द्वेष की मात्रा और तीव्रता बहुत बढ जाती है । सब एक-दूसरे को भली भाति पहचानते हैं, एक-दूसरे के गुण-दोषो से परिचित है, एक-दूसरे की दुर्बलताओ से खुल कर लाभ उठा सकते है ।

और फिर यह झगडा जल्दी समाप्त नही होता । कब किसने क्षति पहुंचाई थी, यह बात भूलती नही, पीढियो तक स्मृति बनी रहती है । आग कुछ बुझती-सी प्रतीत होती है, फिर भडक उठती है । सन्धि लडाई को बद नही करती, अगली लडाई के लिए तैयार होने का अवसर-मात्र देती है ।

देवों और असुरो की लडाई इसी प्रकार की थी । एक-दूसरे के निकट सबधी थे, एक ही पिता की सन्तति थे । महर्षि कश्यप की पत्नी अदिति की कोख मे आदित्यों का जन्म हुआ था । दैत्यो और दानवो की माता दिति और दनु थी । देव और असुर, उभय पक्ष के नेतागण, प्राय सभी एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बद्ध थे, पर दुर्भाग्य से व्यवहार मे बन्धन स्नेह का नहीं, द्वेष का था । दोनो ओर बड़े-बड़े महाप्राण और महारथी थे । सभी

रण-कुशल थे और कई तो महा तपस्वी भी थे। यदि देव-पक्ष के श्रेष्ठ व्यक्तियों में इन्द्र, मरुत, अग्नि, विष्णु और रुद्र के नाम लिये जा सकते थे तो असुर-पक्ष के हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, विरोचन, प्रह्लाद और बलि के नाम भी उसी तपाक से लिये जाते थे।

लड़ाई छिड़ने के लिए कारण ढूंढ़ने में देर नही लगती थी। देवगण मनुष्यो का कल्याण करने के लिए कृतसंकल्प थे। यों वे संसारी सुख-समृद्धि भी प्रदान करते थे, परन्तु उनका मुख्य लक्ष्य था मनुष्य का पारमार्थिक हित। वह उसको धर्म के पथ पर चलाना चाहते थे। यदि वह स्खलित हो गया तो फिर संभालकर ऊपर उठाते थे और यह बात असुरों को अभीष्ट न थी।

कहते है, गेहूं के साथ घुन भी पिस जाता है। बड़ों के संघर्ष में छोटे मारे जाते है। देवों से अनबन के कारण असुर मनुष्यों के पीछे पड़े रहते थे। उनको सन्मार्ग से च्युत करना ही उनका जैसे एकमात्र लक्ष्य बन गया था। लालच से भी काम लेते थे और त्रास से भी और फिर मनुष्यों के त्राण के लिए देवों को भी युद्ध मे उतरना पड़ता था।

दोनों पक्षो के बलाबल का सन्तुलन कुछ ऐसा था कि निर्णायक युद्ध कभी नही हो पाया। कभी एक पक्ष की जीत होती थी, कभी दूसरे की। इसलिए लड़ाई कभी बंद नही होती थी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज भी वह संग्राम चल रहा होगा।

युद्धकाल मे भी कुछ व्यक्तियों के सामने दोनों समुदायों के सिर समान रूप से नत होते थे। इनमें सबसे श्रेष्ठ हिरण्यगर्भ भगवान् प्रजापति थे। उनसे वर मागने में और ज्ञान प्राप्त करने

पहले वैसी वस्तु कभी देखी न थी। तेजःपुज था, जिसपर आंख ठहर नही सकती थी। न आकृति का अटकल लगता था, न आकार का। स्थाणुवत् अपनी जगह पर स्थिर थी, किन्तु ऐसा लगता था कि उसकी निश्चलता अपने में विश्व की सभी गतियों को संजोये हुए है।

सभा मे सन्नाटा छा गया। विनोद और उल्लास की जगह विस्मय और कुतूहल ने ली।

इन्द्र ने अग्नि को आदेश दिया कि जाकर देखो, यह क्या और कौन है। ठीक भी था, अग्नि को जातवेदा और विश्ववेदा कहते है। यह सबकुछ जानते है, सबकुछ जान सकते हैं। अग्नि यक्ष के पास गये। उसने पूछा, तुम कौन हो? उनको यह प्रश्न अच्छा नही लगा। कोई ऐसा भी हो सकता है, जो अग्नि को न जानता हो? नाम बताने पर उसने पूछा, तुम्हारा वीर्य क्या है? तुम क्या कर सकते हो? यह और भी बड़ा अपमान था, पर इसे घोंटकर उन्होंने अपनी दहन-शक्ति का परिचय दिया। तब एक तृण उनके सामने आया और उनसे कहा गया, इसे जलाओ। यह तो अपमान की पराकाष्ठा हो गई। परन्तु आश्चर्य, घोर आश्चर्य! अग्नि स्वयं तो क्रोध से जले जा रहे थे, पर उस तिनके को न जला सके। लज्जा से पानी-पानी हो गये। सिर नीचा किये लौट गये।

तब पता लगाने के लिए मरुत भेजे गये। उनका व्यक्तित्व देव-कुल मे निराला है, सामूहिक सत्ता का अद्भुत निदर्शन है। उनचास मरुत है, पर सब एक साथ रहते हैं। उनचास शरीर है और एक आत्मा। इस सामूहिक व्यक्ति को ही वायु

और मातरिश्वा कहते हैं। उनका पराक्रम प्रसिद्ध है? देवलोक के सेनापति हैं। किसी युद्ध के छिड़ने पर यह मांग होती है कि 'देव-संगगम अभिभजतीनाम् मरुतो यन्तु अग्रे' अर्थात् शत्रुओं का विनाश करती हुई देव-सेनाओं के आगे मरुत चलें। पर आज मरुत का वीर्य भी विफल हुआ। यक्ष ने उनसे एक तिनका उड़ाने को कहा। पूरा बल लगाकर भी वह उसे हिला न सके। उनको भी लज्जित होकर लौटना पड़ा।

देव-सभा क्षुब्ध हो उठी। हमारे असुर-विजयी योद्धाओं को पराजित करनेवाला यह कौन है? यदि इसने हमपर आक्रमण कर दिया तो हमारा क्या होगा? धीरे-धीरे आश्चर्य की जगह चिन्ता और भय का वातावरण बन गया। इन्द्र ने देखा कि स्थिति को और बिगड़ने देना ठीक नहीं है। यों तो जाँच करने के लिए किसी दूसरे को भेज सकते थे। उनके पास ही उनके छोटे भाई विष्णु बैठे थे, जिन्होंने अपने शौर्य से उपेन्द्र की उपाधि प्राप्त की थी। पर इस अवसर पर उन्होंने स्वयं ही जाना उचित समझा।

है, जिसको वह अबतक विश्व समझते थे, वह तो एक बहुत छोटा, अणु के समान नगण्य, टुकड़ा है। असंख्य प्रजापति, रुद्र, विष्णु है, असंख्य इन्द्र है। वह यक्ष का पीछा करते यहां तक आये। यहां कहां ? जहा दिशाओं का कोई संकेत न हो वहां आगे, पीछे, ऊपर, नीचे कहने का क्या अर्थ होगा ? और फिर सहसा यक्ष आंखों से ओझल हो गया।

इन्द्र जब यक्ष के पीछे चले थे तब तो उनके मन में क्रोध था, पर वह तो न जाने कब का चला गया था। अब तो वह विनम्र जिज्ञासु भावना से उसकी ओर बढ़ रहे थे। इस अपार, अथाह सागर में वही एक सहारा था। उसके अन्तर्हित होने से इन्द्र अधीर हो उठे, नैराश्य के गम्भीर गर्त में डूब-से गये और इसी अवस्था में उनको उमा हैमवती के दर्शन हुए।

उस देह को स्त्री का शरीर ही कह सकते है। लावण्य, तेज, वीर्य, ऐश्वर्य और ज्ञान की मर्यादा, उसकी छवि को लेखनी या तूलिका की रेखाओं में कौन बांध सकता है ! इन्द्र का अभिमान गलित हो चुका था। चित्त के सब कषाय भस्म हो चुके थे। उन्होंने उस विग्रह को साष्टांग प्रणाम किया।

उमा ने उनको बतलाया कि असुरो पर विजय पाकर तुम लोग दर्प से फूल उठे थे। ऐसी मनुवृत्ति लेकर लोकसेवा नहीं की जा सकती। तुम मनुष्यों का कल्याण करना चाहते हो, परन्तु दुरभिमान तुमको यह भी न करने देता। अत: तुमको शिक्षा देने के लिए ही ब्रह्म यक्ष रूप से प्रकट हुआ। तुमने स्वयं यह अनुभव कर लिया कि तुम्हारा अपना वीर्य तुच्छ है। तुम जो कुछ करते और कर सकते हो, वह ब्रह्म के आश्रय से। धर्म की विजय

हो, इसलिए ब्रह्म ने तुमको आविष्ट किया। उसीके बल से तुम लोगों की विजय हुई।

इस प्रकार का ज्ञान तो इन्द्र की बुद्धि मे स्वतः उदय हो चला था। यक्ष को प्राप्त करने के लिए उन्होंने जो अनवरत प्रयास किया, उसने उनके अन्तःकरण से अविद्या के कल्मष को बहुत-कुछ दूर कर दिया था। अब तो उनको ब्रह्म को जानने की उत्कट अभिलाषा थी। उनको उत्तम अधिकारी जानकर देवी ने इस विषय की शिक्षा भी उनको दी। वस्तुत. 'ब्रह्म' शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध से परे है। यक्ष रूप और शब्द युक्त था। अतः वह ब्रह्म का प्रतीक मात्र था। देवगण की बुद्धि ऐसे प्रतीक का ही ग्रहण कर सकती थी। परन्तु ब्रह्म की खोज मे इन्द्र ने कठिन तप किया था, सब इच्छाओ का परित्याग किया था। अतः उनकी बुद्धि शुद्ध हो गई थी। कहा भी है :

आत्मना विन्दते वीर्यं, विद्ययाऽमृतमश्नुते।

आत्मा से (चित्त को एकाग्र करके आत्मचिन्तन से) वीर्य प्राप्त होता है, वीर्य से विद्या (आत्मज्ञान) की प्राप्ति होती है, आत्मज्ञान से अमृत (मोक्ष) का अनुभव होता है।

इस प्रकार देवो में इन्द्र पहले ब्रह्मवेत्ता हुए। उन्हें जो ज्ञान मिला, वह अनुभवगम्य है, शब्दो मे व्यक्त नहीं किया जा सकता।

क्षणभर में इन्द्र फिर देवसभा में पहुंच गये। उनके मुख पर जो तेज था, वही उस ज्ञान-रूपी अपूर्व निधि की साक्षी दे रहा था, जो उनको प्राप्त हुई थी। उसे तो वह सब देवों को नही बांट सकते थे, परन्तु उन्होने देवों को यह समझा दिया कि हमारा अभिमान मिथ्या था। जो सत्ता इस विश्व का आधार है, वह

धर्म का क्षय नहीं देख सकती। हम लोग तो निमित्त मात्र है। हमारे द्वारा वह स्वय काम करती है। उसीके बल से बलवान होकर हमने असुरों को पराजित किया था।

अभिमान के दूर हो जाने से देवगण अपने कर्तव्यों के पालन करने में अधिक समर्थ हुए।

इन बातों का समाचार दूर-दूर फैला। मनुष्य-समाज में भी यत्र-तत्र चर्चा हुई। एक बार अम्भृण ऋषि के आश्रम पर सत्संग के लिए दूर-दूर से ऋषि-मुनि एकत्र हुए। धर्म और अध्यात्म-विषयक वार्तालाप के प्रसंग में ऊपर की घटना की बात छिड़ गई।

किसी ऋषि-कुमार ने यह प्रश्न किया कि ज्ञान की उपदेष्टी उमा क्या वस्तुतः स्त्री-स्वरूपा है? इसका उत्तर योगिराज श्वेताश्वर ने इस प्रकार दिया :

त्वं स्त्री त्वं पुमानसित्वं कुमार उत वा कुमारी

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है या तू कुमारी है? इसका तात्पर्य यह है कि न वह पुरुष है, न स्त्री है, न षंढ है, न वृद्ध है, न युवा है, न बाल है। परन्तु इन्द्र को दीक्षा देते समय विद्या के रूप में आई थी इसके उपयुक्त स्त्री का विग्रह ही हो सकता था। इसके बाद ही यह प्रश्न उठा कि वह थी कौन? जिस यक्ष को उसने ब्रह्म बताया था, उससे भिन्न थी या अभिन्न? इन प्रश्नों से संबद्ध विचार-विनिमय में कई महात्माओ ने भाग लिया। सबका मन्तव्य प्रायः एक ही था।

यदि यक्ष ब्रह्म था तो उमा उसकी शक्ति थी और शक्ति शक्तिमान् एक-दूसरे से अभिन्न होते है। इसीलिए ब्रह्म को अर्ध-

नारीश्वर उपमा दी जाती है। किसी विद्वान ने उपस्थित मुनि-सघ को परमेष्ठी ऋषि की इस उक्ति की स्मृति दिलाई:

आनीदवातं स्वधया तदेक तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ।

सृष्टि के आदि मे वह अकेला अपनी स्वधा नामक शक्ति के साथ बिना हवा के सास ले रहा था। उसके सिवाय और कुछ नही था।

कुछ महात्माओ ने इस ओर भी ध्यान दिलाया कि देवासुर-संग्राम उस सघर्ष का बाहरी प्रतीक मात्र है, जो प्रत्येक मनुष्य मे निरन्तर होता रहता है। चित्त की वृत्तिया अन्त करण की सन्तति हैं—सद्वृत्तियां देवस्थानीय और असद्वृत्तिया असुररूपा हैं। इनमे सघर्ष होता रहता है। कभी एक का पल्ला भारी होता है, कभी दूसरे का; परन्तु मनुष्य निराश्रय, नि सहाय नही है। सृष्टि के आरम्भ मे परमात्मा के हिरण्यगर्भ रूपी अन्त करण मे भावी जगत विचाररूप से चित्रित हुआ। उसी समय उसके संचालन के लिए ऋत और सत्य नाम से उन अटल नियमो का प्रादुर्भाव हुआ, जिनके सबध मे कहा गया है—'तानि धर्म्माणि प्रथमात्यासन्' अर्थात् प्रथम धर्म हुए। जब कुवृत्तियो का बल बहुत बढता प्रतीत होता है तो धर्म की शक्ति भी उदीप्त होती है। परन्तु कभी-कभी मनुष्य अपने मनोबल, अपने चरित्र, पर गर्व करने लगता है। तब उसे ठोकर खानी पड़ती है। जो सत्पात्र है, उसके चित्त मे शक्ति के मूल स्रोत को जानने की इच्छा जागती है, सवेग बढता है। अन्य बातों की ओर से विरति हो जाती है। वह समाधि की भूमिकाओं का आरोहण करता है और एक दिन उसके हृदयाकाश मे प्रज्ञा का उदय होता है।

गोष्ठी में बातचीत का स्तर और सूक्ष्म होता गया। अब विचारणीय विषय यह हो गया कि ब्रह्म है क्या ? एक ओर तो यह माना जाता है कि ब्रह्म सत्तामात्र, चेतनामात्र, निरुपाधि पदार्थ है। उसका किसी प्रकार भी वर्णन नही हो सकता, इसलिए नेति-नेति (यह नहीं, यह नहीं।) कहा जाता है। तब फिर ब्रह्म धर्म के संरक्षण में सक्रिय भाग कैसे ले सकता है और यक्ष, उमा हैमवती या अन्य रूप को कैसे धारण कर सकता है ?

सभासदों ने सनत्कुमार से इस शंका के समाधान की प्रार्थना की। वह उपस्थित सभी लोगों में तपोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध थे। उन्होंने जिज्ञासु वृन्द के अनुरोध को स्वीकार कर लिया। उनके उपदेश का सारांश यह था :

वस्तुतः ब्रह्म एक है। सत्तामात्र और चेतनामात्र होने से वह बुद्धि और वाणी के लिए अगोचर है, इसीलिए उसके लिए 'नेति-नेति' कहा जाता है। जो कुछ है, वह ब्रह्म है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म।' परन्तु ब्रह्म का एक और रूप भी है, अपर या मायाशबल ब्रह्म। अविद्या के कारण उसकी प्रतीति होती है। वह चेतन है, सब शक्तियों का भंडार है, सर्वज्ञ है। जीवन अपने में अल्प शक्तिमत्ता और अल्पज्ञता का आरोप करता है। इस अपर ब्रह्म से ही ऋत और सत्य का उद्गम हुआ है, यही धर्म की रक्षा करता है, इसीसे देवों और दैवी वृत्तियों को बल मिलता है। इसी का परमात्मा संज्ञा है। चित्त के मल के धुल जाने पर, अविद्या के नाश होने पर, जीव और ईश का भेद मिट जाता है और जीवन शुद्ध ब्रह्म से अपने अभेद का अनुभव करता है। यही मोक्ष है। मोक्ष कोई ऐसा गुण नही है, जो कही बाहर से लाकर जीवन में

प्रकार यह जगत, यह परिवर्तनशील विश्व, नानारूपों में दीख पड़ता है, पर इन सब रूपों के भीतर मैं स्थाणु, एकरसा हूं। जिस प्रकार रस्सी में दीख पड़नेवाला सर्प मिथ्या है, पर उसका आधार, रस्सी, सत्य है, उसी प्रकार यह जगत् मिथ्या है, पर इसका आधार मैं सत्य हूं। अज्ञान से ही रस्सी में सर्प की और मुझमें जगत् की प्रतीति होती है। ●

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् ...

५

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्...

उनका नाम था दीर्घतमा। दीर्घतमा का अर्थ हुआ घोर अन्धकार से युक्त। यो तो उचथ्य और ममता का पुत्र होने से उनको औचथ्य और मामतेय भी कहते थे, परन्तु जन्मान्ध होने के कारण वह प्राय दीर्घतमा के नाम से ही प्रसिद्ध थे। इसके कई सहस्र वर्ष पीछे हिन्दी के एक ख्यातनामा कवि भी जन्मान्ध होने के कारण सूरदास के नाम से पुकारे जाते थे। दीर्घतमा भी कवि थे। उनकी रचनाए इतनी लोकप्रिय हुईं कि वह आज भी आदर के साथ पढी जाती है। ऋग्वेद के प्रथम मंडल का एक पूरा सूक्त दीर्घतमा के नाम से विख्यात है। सूरदास से उनका एक और बात मे भी सादृश्य था। दोनों ही सिद्ध उपासक थे। सूर के इष्ट श्री कृष्ण थे और दीर्घतमा के अश्विद्वय, पर दोनों को अपने इष्ट देवों के प्रति अगाध प्रेम और अटूट श्रद्धा थी।

दोनों का सादृश्य प्रायः यही समाप्त हो जाता है। सूरदास ने तो अपने को गृहस्थी के झंझट से दूर रखा, परन्तु दीर्घतमा ने गृहस्थाश्रम को अपनाया। वह उन लोगों मे थे—'जे बूडे सब अग' और उनका प्रारब्ध तो जैसे उनके पीछे हाथ धोकर पड़ गया।

उनको जो धर्मपत्नी मिली, उनका नाम का प्रद्वैषी। यह नाम ही साधारण मनुष्य को डराने के लिए पर्याप्त था। उनके कई पुत्र हुए। ब्राह्मण लोग यजमानों को 'बहुपुत्रलाभः' का आशीर्वाद दिया करते है, परन्तु दीर्घतमा के लिए तो सन्तति अभिशाप हो गई। कलियुग को बुरा बताया जाता है, परन्तु दीर्घतमा तो सत-युग में थे। फिर भी उनके साथ जो व्यवहार किया गया, वह कलियुगवालों को भी लज्जित करनेवाला था। अंधे तो थे ही, स्वयं कोई उद्यम कर नहीं सकते थे। लड़कों पर ही उनके भरण-पोषण का भार था। इससे ऊबकर उनको जल में फेंक दिया गया, पर वह किसी प्रकार निकल आये। तब आग मे झोंक दिया गया। फिर भी बच गये। तब त्रैतन नाम के एक दास ने उन पर शस्त्र से प्रहार किया। घायल तो हो गये, परन्तु मरे फिर भी नही। दीर्घतमा का यह कहना है कि यह सब अश्विनों की कृपा थी। बराबर बचते तो गये, परन्तु ऐसे निरन्तर दुर्व्यवहार का परिणाम तो होना ही था। शरीर इतने आघात कहांतक सहता! थोड़े ही वय में जीर्ण हो गये। "दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान दशमे युगे," मामतेय दीर्घतमा दसवें युग मे बुड्ढे हो गये। एक युग पांच वर्ष का होता है, इसका अर्थ यह है कि पचासवें साल में बूढ़े हो गये।

मनुष्य का जीवन सदा एक-सा नही रहता। कभी-कभी घटना-चक्र के आघात से उसको नया मोड़ मिल जाता है। दीर्घ-तमा के संबंध में भी ऐसा ही हुआ। भांति-भांति के कष्टों को सहते हुए उनके हृदय में वैराग्य अंकुरित हुआ। आखिर मै यह सब क्यो सह रहा हूं ? जिन पुत्रों ने मेरे साथ ऐसा दुर्व्यवहार

किया है, उनके प्रति मुझे ममता क्यों है ? इन यातनाओं को सह-कर मैंने किस पुण्य का संचय किया है, जो शरीर छूटने के बाद मेरे काम आयेगा ? यदि गृहस्थ आश्रम में रहकर कभी कुछ सुख मिला भी हो तो वह सुख अस्थिर निकला। जिस फल को मीठा समझकर खाने का प्रयास किया, वह चलते-चलते कड़ुवा हो गया। मैंने प्रशस्त ब्राह्मण कुल में जन्म लिया, अपने को अश्विनो का भक्त समझता हू और उनकी मेरे ऊपर कृपा भी है, परन्तु मैंने उनसे सिवाय ससारी बातो के कभी और कुछ नही मागा। उनकी कृपा से पारलौकिक ज्ञान भी प्राप्त हो सकता था, पर मैंने कभी उसकी इच्छा नही की। नित्य प्रात.-साय, संध्या करता हूं और उस मन्त्र को पढता हूं, जिसमे यह प्रार्थना की गई है :

अदीना: स्याम शरद. शतम्

अपनी पूरी आयु अदीन रहू, परन्तु मैं शुकवत् इन शब्दों को दोहरा जाता हू। कभी इनके अर्थ पर ध्यान नही दिया। परि-णाम यह है कि सदैव दीन रहा, दूसरे के आश्रित रहा, यह सब किसलिए ? यह सब सोचते-सोचते उसको अपने ऊपर ग्लानि होने लगी और ग्लानि के साथ वैराग्य-भावना बढने लगी। एक और बात भी थी। उसके चारो ओर बड़े-बड़े महापुरुष रहते थे, जिनके तप और ज्ञान की चतुर्दिक ख्याति थी। उनके पवित्र जीवन और चरित्र का आदर समाज में सभी करते थे। जब दीर्घतमा अपने साथ उनकी तुलना करते थे तो उनका सिर लज्जा से झुक जाता था। इसके साथ ही उनके चित्त मे उन लोगो के पथ पर चलने की इच्छा भी तीव्र हो जाती थी। यही सब सोचते-सोचते एक बार उनके मुह से ये शब्द निकले :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ।।

इस जगत् में जहा मैं हूं, वही वामदेव जैसे तपस्वी विद्वान् भी है। आत्मा की दृष्टि से हममें कोई अन्तर नहीं है, परन्तु मेरे जैसे व्यक्ति वासनाओं के वशीभूत होकर अच्छे-बुरे कर्मो में रत रहते हैं, सुख-दु:ख भोगते रहते है। सच तो यह है कि जिसको हम सुख मानते हैं, वह भी प्रकारान्तर से दु:ख ही है। दूसरी ओर वे महात्मा लोग है, जो जगत में रहते हुए भी इस प्रकार निर्लिप्त है, जैसे जल में कमल। हमारी उपमा ऐसे दो पक्षियों से दी जा सकती है, जो एक-दूसरे के सजातीय है और समानधर्मा हैं तथा एक ही वृक्ष पर बैठे है, परन्तु उनमे से एक उस वृक्ष के खट्टे-मीठे फलो को खाता रहता है, दूसरा शाति से बैठा रहता है। एक भोगों का दास है, दूसरा आत्माराम।

इस प्रकार सोचते-सोचते उनके जीवन में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गये। भोगों से विरत होकर उनके चित्त में आत्मा विषयक जिज्ञासा उत्पन्न हुई और वह आत्म-स्वरूप के अन्वेषण में लगे। काल पाकर उन्होंने अपने चित्त के सारे कषायो को योगाग्नि से दग्ध करके असम्प्रज्ञात समाधि की ऊंची भूमिका में प्रवेश किया और एक दिन ऋषि संघ में इस तथ्य का उद्घोष किया :

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिदेवा अधिविश्वेनिषेदु:
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमेसमासते।।

वेदों का समुच्चय अर्थात् समस्त ज्ञान का भंडार, सत्य का परम निधान, उस जगह है, जहां इस जगत् से ऊपर सारे देवगण

निवास करते है, अर्थात् विश्व का संचालन करनेवाले समस्त देवता एकीभूत होकर विलय को प्राप्त होते है और जहां से ही उन सबका उद्गम हुआ है। जिसको उस परम व्योम, निर्विकल्प, समाधि की उच्चतम भूमि का परिचय प्राप्त है, वह स्वरूपस्थ होकर परम आनन्द का अनुभव करता है। जो उसको नही जानता, उसका वेद-मंत्रो का उच्चारण करना निष्फल प्रयास है।

प्रारब्ध के अनुसार शरीर छोड़ने पर दीर्घतमा परम मोक्ष पद को प्राप्त हुए।

असुर्या नाम ते लोकाः ...

रामर्श है कि किसी अच्छे वैद्य को कल बुलाया जाय।

साथ में कुछ पूजा-पाठ की भी व्यवस्था है। उसके हाथ से कुछ दान-पुण्य भी कराया गया। उसको ऐसी बातों पर कभी विश्वास नही था, परन्तु लोगों की बात टालता नही था। वह सोचता था कि मैं ऐसा क्यों करता हूं। एक बात तो यह है कि मै नही चाहता कि लोग मुझे कजूस समझें, पर इतनी ही बात नही है। ढूढने पर उसे अपने चित्त में एक छिपा चोर मिला। उसने पूजा-पाठ और देवी-देवता पर कभी विश्वास नही किया, परन्तु अब बीमारी मे कभी-कभी कुछ शंका उठ जाती थी। आखिर मेरे अविश्वास का कारण क्या है?

यह ठीक है कि इनके अस्तित्व का कोई प्रमाण नही मिलता। परन्तु अनस्तित्व का भी क्या प्रमाण है? करोड़ो मनुष्य इन बातो को मानते है, क्या सब मूर्ख है? लोग कहते हैं कि पूजा-पाठ से भगवान् प्रसन्न होते है। मुझे कभी इस ओर ध्यान देने की फुर्सत ही नही थी, आवश्यकता भी नही थी। मैंने अपने लिए जो लक्ष्य बनाया था, उसे प्राप्त किया। रुपया कमाया, समाज मे प्रतिष्ठा पाई, सरकार ने सम्मान किया। लोग बीसों कामों के लिए मेरी खुशामद करते है। लड़के-लड़कियो के ब्याह हुए, लडके भी मेरे मार्ग पर चल रहे हैं। उनका भी भविष्य उज्ज्वल है। और भगवान् प्रसन्न होकर क्या दे देते? आगे बढने, ऊपर उठने में कुछ बाधाए भी आई, कुछ लोगो ने विरोध भी किया, पर सबको मुह की खानी पड़ी। उसकी ठोकरो ने सबको चूर कर दिया। वह जानता था कि सैकड़ो घर उजड़े। उसके क्षत-विक्षत प्रतियोगियो के आर्तनाद की याद से उसको अब भी हँसी आ जाती

थी। न जाने, कितनी बार उसमे दया की भीख मांगी गई, पर शान और वैभव का महल दया की नीव पर भी कभी खडा हुआ है। दुर्बल को अपनी दुर्बलता का दण्ड सहना ही होगा।

परन्तु आजकल घूम-फिर कर यह विचार मन मे आ ही जाता था कि क्या उसने जो कुछ किया, वह सब ठीक किया। यदि कुछ लोगो पर दया दिखलाकर उनके आशीर्वाद ले लेता तो कैसा होता ? और हा, यदि कोई देवी-देवता हो, यदि ईश्वर हो, तो क्या होगा ? क्या उसका आचरण उनको बुरा लगा होगा ? क्या कभी उनका सामना हो सकता है ? क्या कभी उससे व्यवहार की आलोचना भी हो सकती है ? दण्ड भी मिल सकता है ?

दण्ड कौन देगा ? उसने यह सुन रखा था कि मरने के बाद पुण्य-पाप, भले-बुरे का लेखा-जोखा होता है। स्वर्ग-नरक की भी चर्चा सुन रखी थी, पर एक तो ये सब बाते उसके लिए कोरी कहानियां थी, भोले-भाले लोगो को बहकाने के लिए बहाना थी। दूसरे, उनका सबध मरणोत्तर काल से था। वह यह तो मानता था कि एक दिन उसे भी मरना होगा, परन्तु मृत्यु की बात को वह अपने मस्तिष्क से दूर ही रखता था। फिर भी आजकल न जाने क्यो, यह विचार बार-बार आता था। सम्भवत. उसकी लम्बी रुग्णावस्था ने मस्तिष्क को भी कुछ दुर्बल कर दिया हो।

उफ, मृत्यु ! क्या सचमुच मरना ही होगा ? क्या यह सब, घर, रुपया, बाग, सवारी, कुटुम्बी, छोडना होगा ? एक-एक का चित्र उसके सामने आता था। प्रत्येक चित्र से कठ रुधा जाता था। अच्छा, यह सब छूट जाय, तब फिर आगे क्या होगा ? माथे पर पसीना आ रहा था, हाथ-पांव ठडे हुए जा रहे थे। क्या कोई

लम्बी यात्रा करनी होगी ? कहां जाना होगा ? वहां क्या अनुभव होगा ? शरीर तो छूट जायगा, फिर यात्रा कैसी होगी ?

वह घबरा उठा। जिस शारीरिक व्यथा को वह क्षणभर के लिए प्रायः भूल-सा गया था, वह सौगुनी तीव्रता से एकाएक लौट आई। वेदना असह्य-सी हो गई, पर क्षणभर के ही लिए। सहसा एक झटका-सा लगा, जैसे किसीने जोर से खीचा हो। फिर वेदना, पीड़ा, शांत हो गई। उसको यह आश्चर्य जरूर हुआ कि मुझ रोगी को इस प्रकार कौन धक्का दे रहा है !

गहरा अधेरा था। क्या लट्टू की ज्योति बुझ गई ? पर कमरे मे कोई हलचल नही है, बत्ती ठीक करने का कोई प्रयत्न नही हो रहा है। यह क्या ? तब ऐसा लगा कि वह चारपाई पर नही है। फिर वह है कहा और कैसे टिका है ? अनेक रग-बिरंगी लहरियां उसको चारो ओर से घेरे हुए है। इनके स्पर्श में शीतलता है, जलन है, हल्कापन है, गुरुत्व है। वे इसे झकझोर रही है। एकाएक उसे विचार आया, यह सब क्या हो रहा है ? क्या वह झटका, जो मुझे लगा था, मृत्यु का था ? क्या मै सचमुच मर गया ? क्या मैं अब उस परलोक मे पहुच गया, जिसका नाम बराबर सुना करता था ? यह सोचते ही वह बेहोश हो गया।

कुछ देर मे उसने सज्ञा लाभ की। देखा तो उसका शरीर भूमि पर लेटा हुआ है। उसको घेरकर कुछ परिचित, कुछ अपरिचित, व्यक्ति बैठे हुए है। वह स्वय उस शरीर पर मंडरा-सा रहा था। उसके प्रति मोह था, वह अपना था। एक प्रकार का शरीर तो अब भी उसके पास था। वह देख सकता था, सुन सकता था, छू सकता था; पर दूसरे लोगो को उसके अस्तित्व का ज्ञान नही

था। वह उनको प्रभावित करना चाहता था, पर सब लोग अपनी-अपनी धुन मे इतने व्यस्त थे कि किसीने उसकी ओर ध्यान नही दिया। इस बात से उसको और भी घबराहट हो रही थी। सबके बीच मे था, पर दूसरो के लिए उसका होना न होना बराबर था।

लोग उसके शरीर को लेकर चले। साथ-साथ वह भी चला। थोडी देर मे उस परिचित स्थान पर पहुचे, जिसे श्मशान कहते है। वहा क्या होगा, वह जानता था। सोचकर काप उठा। थोडी ही देर मे उसका इतने दिनो का साथी, इस दृश्य जगत् मे उसका एकमात्र अपना, सदा के लिए नष्ट कर दिया जायगा।

जो होना था, वह हुआ। धू-धू करके शरीर जल उठा, फिर कुछ हड्डियो और राख के ढेर के सिवाय कुछ न रहा। उसकी सारी इच्छाओ की पूर्ति का उपकरण, उसके स्नेह का अनन्य पात्र, बात-की-बात मे न रहा। वह फिर सज्ञा खो बैठा।

घोर अधकार। निशीथ से आवृत्त निशीथ, तमिस्रा से व्याप्त तमिस्रा। सूर्य, चन्द्रमा, तारे, जुगनू—प्रकाश का कही कोई स्रोत नही। यो अधेरे मे रहने के बाद थोडी देर मे आखे अभ्यस्त हो जाती है और कुछ-कुछ दीख पड़ने लगता है, पर यहा तो कुछ है ही नहीं। दीख क्या पडे ? और फिर आखें भी तो नहीं हैं, देखे कौन और कैसे ? और वह अकेला है। अन्धकार के लोक मे अकेला चला जा रहा है। चला जा रहा है ? चलने का साधन कौन-सा है ? पैर तो है ही नहीं। और फिर जब यहा और वहा का भेद न प्रतीत हो, दिशा का कोई सूचक न हो, तो फिर चलना कैसे माना जाय ? हा, विचारों की, चैत्त विकारो की, अटूट परम्परा जारी है। एक विचार-तरग उठती है, तिरोहित

होती है, उसकी जगह दूसरी लेती है। तो यो कह सकते है कि वह चल तो रहा है, परन्तु दिक् में नही, केवल काल में। पर उसकी यह यात्रा भी विलक्षण है। काल के क्षेत्र में नई अनुभूतियां होती रहती है, लेकिन उसके चित्त की स्मृति के सिवाय अन्य सब वृत्तियां विलीन हो गई है। कोई नई अनुभूति नही, केवल पुरानी अनुभूतियां सामने आती है। अनागत और वर्तमान दोनों सिमटकर अतीत हो गये हैं।

अकेलापन उसके लिए कोई नई बात न थी, पर इस अवस्था का अकेलापन कुछ नये ढग का था, डरावना था; क्योंकि उसके अन्त होने की कोई सम्भावना नही प्रतीत होती थी। स्मृति के नये-नये पटल खुलते जाते थे और सब पर साथी अंकित थे—मनुष्य, पशु, पक्षी, कुछ अच्छे और प्रिय, कुछ बुरे और अप्रिय; पर जैसे भी साथी थे, समय काटने मे सहायक थे। पर अब, न ऐसा कोई है और न स्यात् होगा। यह सब सोचता जाता था और साथी के लिए तड़प बढ़ती जाती थी। चाहे कोई हो, एक से दो तो हो जायं! सुना था, मरने पर स्वर्ग या नरक जाना होता है। स्वर्ग न सही, नरक मे भी तो साथी मिलते है। लोग कहते थे कि यमदूत ताडन करते है, मारते-काटते है। ये बाते कष्टदायक होगी, पर अब तो अकेलापन असह्य हो रहा है। यमदूत ही दिखाई पड़ जाय। चाहे जो करें, परन्तु पास में कोई हो तो उफ, इस अकेलेपन से कैसे छुटकारा मिले ?

शरीर नही रहा, परन्तु शरीर को प्रेरणा देनेवाली प्रवृत्तियां ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। नही-नही, पहले से बहुत तीव्र हो गई हैं। तुष्टि के साधनो के अभाव ने उनको और प्रखर बना दिया

है। न जाने कहा-कहा से वासनाओ के बादल उमड रहे है। स्मृति वासना की आग को और प्रज्वलित कर रही है। पहले भी वासनाए सताती थी, उनकी तृप्ति के उपाय किये जा सकते थे, उनका उपशम हो जाता था। अब उपाय कहा ? उपशम कैसे हो ? भोग से प्राप्त सुख की स्मृति भोग की कामना को उत्कट-तर बना रही थी। यह अतृप्ति, यह बेवसी, यह कभी न बुझने-वाली ज्वाला, यह असह्य व्यथा ! सुना करता था कि मरने के बाद दूसरे शरीर मे जन्म मिलता है। यदि इस समय छोटे-से-छोटे कीडे का भी शरीर मिल जाता तो अपार सुख मिलता। स्मृतिया विलीन हो जाती। कुछ साथी मिलते, कुछ वासनाए तृप्त होती। पर नही, मुझे तो नरक के दर्शनो का भी सौभाग्य नही मिलनेवाला है। कीडे-मकोडे के जीवन मे जो सुख है उसकी छाया से भी वचित हूं।

कभी-कभी तन्द्रा-सी आ जाती थी, परन्तु विचारो के थपेडे उसे कव टिकने देते थे! न जाने स्मृति का यह सचित भंडार कितना विशाल है! कैसी-कैसी घटनाए सामने आती है! इन सबमे मैं कभी-न-कभी, किसी-न-किसी रूप से, पात्र रहा था। इनका तांता टूटता ही न था। मैं पागल को हास्यास्पद समझा करता था, पर अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि पागल का जीवन धन्य है। वह स्मृतियो के बोझ को सिर से फेंककर अपनी कल्पना से निर्मित सुखमय जगत् मे रहता है। क्या मैं पागल नही हो सकता ? भले ही चित्त शून्य हो जाय, पर इन स्मृतियो से तो छुटकारा मिले।

उसने यावज्जीवन अपना ध्यान अपने ऊपर ही केन्द्रित

रक्खा था। उसके लिए समूचे विश्व का नाभिबिन्दु उसका 'स्व' था। पुत्र, कलत्र, मित्र—सब उस 'स्व' के लिए थे। अब वही 'स्व' उसके लिए जंजाल बन गया था, अकेलेपन के रूप में उसको वेष्टित्त कर रहा था। उसका जगत् अपनी परिधि को संकुचित करके अपने केन्द्र से तद्रूप हो गया था। पर अब तो 'स्व' उसके लिए विष के समान त्याज्य हो रहा था। 'स्व' को सर्वस्व मान-कर उसने अपने को इतना छोटा बना लिया था कि दम घुट रहा था। वस्तुत. जिसको उसने विकास समझा था, वह उसका संकोच था। उसने अबतक आत्मा की अभिवृद्धि नहीं की थी, उसका हनन ही किया था।

, उसने संकल्पपूर्वक कभी किसी दूसरे को सहायता नही की थी। यदि कभी किसी का काम उसके हाथों बन भी आया तो उसके साथ इतना अनादर और तिरस्कार मिला रहता था कि अमृत भी विप बन जाता था। न जाने कितने घरों को तवाह होते उसने देखा था। न जाने कितने युवकों और युवतियों की उमगभरी जवानियां उसकी आखो के सामने इच्छाभिघातों के प्रहारो से रोदी गई थी। सबके जीवन को उसने ही नष्ट किया हो, यह वात नहीं थी। पर ऐसे बहुत-से अवसर आये थे, जब वह किसी डूवते को सहारा दे सकता था। उसने ऐसा नही किया। आज वे धंसी हुई आंखे, वे भूखे कंकाल, किलकारी मारकर उसपर हँस रहे थे। उन अभागो के करुण-क्रन्दन चीत्कार वन-कर उसको विह्वल कर रहे थे। जिस चिन्ता में वह घुल-घुलकर मरे थे, उसकी लपटें उसको जला रही थी। उनके उजड़े घरों के झरोखो से निकला हुआ हवा का एक-एक झोका उसको हजार-

हजार बिच्छुओ की भाति डस रहा था। आखिर उसे विशाल जगत से मुह मोडकर क्या मिला ? स्मृतियो का यह भारती बोझ ? 'स्व' की अनन्य पूजा का परिणाम यह परिताप ? अबतक वह 'स्व' की वृद्धि के लिए जो कुछ कर रहा था, वह आत्मवचना या आत्मा का हनन था, या...उफ, यह पीडा !

सदा ऐसा नही था। कभी उसके चित्त मे भी उदार भावनाए उठती थी। वह भी कभी दूसरो की दर्दभरी कहानी सुनकर द्रवित हो जाता था। परन्तु उसके गुरुजन ने, शिक्षको ने तथा उक्त हितैपियो ने, उसे यह सिखाया कि जीवन संघर्ष है। इसमे दूसरो को पीछे धकेलकर ही आगे बढा जा सकता है। यदि दया का स्वाग भरना हो तो सन्यास लेना चाहिए। उसको आगे बढने की प्रबल इच्छा तो थी ही और वैभव का संचय करना ही आगे बढना है, यही उसे बताया गया था। अतः उसने अपनी परहित-मूलक भावनाओ को दबाने का अभ्यास किया। पहले तो इसमे कष्ट हुआ। ऐसा लगता था कि दूसरो के हितो को कुचलना छोटा काम है, ऐसा करके मैं अपने को छोटा बना रहा हूं। परन्तु अभ्यास से उस कठिन काम को भी वह कर गया। कडवा घूट मीठा लगने लगा, आगे बढने मे सफलता मिली, इससे हिचक और मिटी। वह दुर्बलो के शव और असहायो के अरमानो के ढेर पर आसीन हुआ। पर था तो यह अपना हनन, और उसका न्यायी पुरस्कार क्या मिला ? स्मृतियो का यह बोझ ! मैंने जितनी आशाए कुचली थी, वे सब अब मुझे कुचल रही है। मैंने जिनके साथ सहानुभूति नही दिखलाई, उनके दु खो का तो अन्त हो गया, पर मेरे दु.खो का तो अन्त नही दीख पडता। उफ !

मैंने कभी अध्यात्म, दर्शन, धर्म को अपने जीवन में कोई स्थान नही दिया। यदि दिया होता तो स्यात् आज इतना निराश्रय न होता। अपने 'स्व' के इन अंगों को हठात् अविकसित रखकर मैंने अपनी पूर्ण आत्माभिव्यक्ति न होने दी, उलटे आत्म-हनन किया। पर हाय, अब क्या हो सकता है ? मेरा अपहृत, विक्षत, 'स्व' ही तो अकेलेपन के रूप में अनुभूत हो रहा है और मेरी बेबसी और किकर्तव्यविमूढ़ता ही मेरे भीतर-बाहर का अन्धकार है। मनुष्य अपनी छाया से भले ही पृथक हो सके, पर इन स्मृतियों को क्या करू ? इनसे कहा बच सकता हूं ? यही तो मेरा सर्वस्व, मेरा 'स्व' मेरी आत्मा हो रही है। अपने आपसे कैसे अलग हूं ? आह !

थोडी देर के लिए उसे फिर तद्रा आ गई, पर क्षणभर में चली गई। वही असीम वेदना अब भी थी। उसमे आधि के भी लक्षण थे, व्याधि के भी लक्षण थे। अवर्णनीय, सर्वव्यापी।

कही से उसके मानस में एक दूसरा स्रोत फूट पड़ा। वह सोचने लगा, क्या मेरे लिए अब कोई आशा नही है ? जो शक्ति समूचे विश्व का संचालन करती है, उसे मै नही पहचानता। उसके अस्तित्व से भी विमुख रहा, पर वह तो मुझे पहचानती होगी, मेरी ओर से विमुख न होगी। हो भी कैसे सकती है ! मुझे भले ही दड दिया जाय, पर एक अवसर तो और दिया जाय। एक बार तो अपने 'स्व' के बिखरे हुए टुकड़ो को फिर जोड़ सकू। मेरी स्मृतियो ने मुझे जो कुछ सिखाया है, उससे लाभ उठाने का एक अवसर चाहता हू, बस एक।

और फिर उसको ऐसा लगा कि वह अब्र पूर्णतया अकेला

नही है। किसी मधुर और शीतल स्पर्श की लहरियो मे गेंद की भाति खेल रहा है। स्मृतियो का बोझ यकायक हल्का हो गया। पीडा न जाने कहा समा गई और सहसा अन्धकार को चीरकर झीने प्रकाश की किरणो ने भीतर-बाहर उजाला फैला दिया।

मृत्यु उसके लिए कोई नई बात नही थी। कई बार मर चुका था और अर्थत कई बार जन्म ले चुका था, परन्तु किसी शरीर मे पहले के शरीरो की याद नही रहती थी। इसलिए प्रत्येक जन्म नया जन्म था, प्रत्येक मृत्यु नई मृत्यु थी। वह कितने शरीरो मे घूम चुका था, यह कौन बता सकता है? कभी वनस्पति के रूप मे आधियो से टक्कर ली थी, कभी फूल बनकर अपनी मादक गध से वन-देवता की पूजा की थी, कभी भ्रमर बन-कर कमल की पखडियो पर गुजार किया था; कभी जल-क्रीडा का आनन्द लिया था, कभी अपने नयनाभिराम नृत्य से मयूरियो के हृदय को मुग्ध किया था और कभी वनस्थली का स्वच्छन्द नागरिक बना था, कभी शिकार रहा, कभी शिकारी। नियति ने जो कराया, वह किया। अपना कोई दायित्व नही। मृत्यु होती थी, उसके बाद तद्रा-सी आती थी, परिताप की कोई सामग्री होती न थी। फिर कुछ दिन के उपरान्त नया शरीर, नया धन्धा।

फिर वह मनुष्य के रूप मे आया। नये शरीर के साथ नये प्रकार की इच्छाओ का उदय हुआ, उनकी पूर्ति के नये साधन मिले, नई शक्तिया प्राप्त हुई। नियति का अब वैसा आधिपत्य न रहा, अपने ऊपर विश्वास बढा। दूसरो के सुख-दुःख का ज्ञान हुआ, अपने सकल्प के अनुसार काम होने लगा, दायित्व की भावना जागी और अब मृत्यु भी पहले जैसी मृत्यु न रही।

उसकी अवश्यम्भाविता का निश्चय था, उसकी कुछ हद तक प्रतीक्षा की जा सकती थी। दूसरों को देखकर उसके सम्बन्ध में कुछ अटकल लगाये जा सकते थे। उसके बाद क्या होगा, इस विषय में कुतूहल, जिज्ञासा और आशंका होती थी, और जब मृत्यु होती थी तो स्मृतियां सामने आती थीं, परिताप और पश्चात्ताप मे जलना पड़ता था। जितना ही प्रयत्न करके जीवनकाल में अपने 'स्व' का विस्तार किया जाता था, उतना ही मृत्यु के उपरान्त उसकी असहायता का तीव्र अनुभव होता था।

हां, तो इस बार जब उसकी स्मृतियों का बोझ असह्यता की पराकाष्ठा तक पहुच गया और उसकी दयनीयता चरम सीमा को छू रही थी, उसके विचारों ने नया मोड़ लिया, और इसका परिणाम तत्काल दीख पड़ा। चित्त हल्का हुआ, वेदना दूर हुई, अकेलेपन की जगह यह अनुभव होने लगा कि कोई अदृश्य सत्ता समवेदना से सिंचित कर रही है। न जाने कितने काल के बाद प्रसुप्त निद्रा-वृत्ति जागी। वह सो गया।

काल पाकर उसको नया मनुष्य-शरीर मिला। शरीर के सहज धर्मो का पालन नियति के विधान के अनुसार हुआ। परन्तु फिर भी इस बार कुछ नवीनता थी। पुरानी स्मृतिया तो विलीन हो गई थी, परन्तु जन्म के पूर्व जो विचार उठे थे, वे अपना सस्कार तो छोड़ ही गये थे। अब उसके जीवन में उदार भावो को स्थान मिलता था। स्वार्थ-भावना चली नही गई थी, परन्तु परार्थ भावना उससे सघर्ष करती थी, कभी-कभी जीत भी जाती थी। यदि स्वार्थ का मोह विजय प्राप्त कर भी लेता था तो पराजित लोकसंग्रह-भावना दूसरे सग्राम के लिए अधिक

शक्तिशाली प्रतीत होती थी। इस प्रकार उसके 'स्व' मे 'पर' का धीरे-धीरे प्रवेश हो चला। इससे 'स्व' की वृद्धि भी हुई।

उसने कई शरीर धारण किये, कई शरीर छोड़े। प्रत्येक शरीर मे उसका चरित्र पहले से उदात्त होता गया। गिरता था, पर उठता था और पहले से ऊंचा उठता था। प्रत्येक पतन पावनता का साधन बन गया।

मृत्यु के उपरान्त स्मृतियो का वैसा बोझ भी नही रह गया था। परिताप और पश्चात्ताप की मात्रा कम होती थी, आशा और प्रतीक्षा की अधिक।

धर्म और अध्यात्म के प्रति अविश्वास के दिन चले गये थे। उनकी जगह श्रद्धा ने ली थी। अब वह स्वाध्याय करता था, मनन करता था, उपासना करता था। साधारण पूजा-पाठ से श्रीगणेश हुआ, तीर्थाटन किया, साधु-महात्माओ के सत्संग मे बैठने लगा। परमार्थ के व्यवसायियो से भेट हुई, उनके दम्भ से ठगा भी गया, परन्तु उसकी सत्यनिष्ठा उसे बचा लाई। तत्त्वज्ञ उपदेष्टा मिले। उनसे दीक्षा पाकर अन्तर्मुख होने की कुंजी मिली। अब उसके लिए मृत्यु घबराहट की वस्तु नही रह गई थी। वह जान सकता था कि नया शरीर कैसा होगा। नये शरीर का चयन केवल नियति का खेल नही था, उसकी अपनी इच्छा भी एक आनुषगिक कारण होती थी।

उसने देव-लोक भी देखा। वहा के सुख का आस्वादन किया, आजानदेवो नि.सीमप्राय अधिकारो का अनुशीलन किया। जीवो के कल्याण-साधन के लिए उनकी अविरत चेष्टा के सामने सिर झुकाना ही पडता था। तप की कैसी महत्ता है!

उसका तपोमय जीवन दूसरों के लिए आदर्श था। वह स्वयं सफल योगी था, समाधि की ऊंची भूमिकाओं में उसकी गति थी, सिद्धियां उसके पैर चूमती थी। वह अब ऐसी जगह खड़ा था, जहां उसके लिए देवत्व भी हस्तामलक जैसा था। विश्व में सभी कुछ संकल्प-मात्र से प्राप्त हो सकता था। मनुष्यों को अनेक प्रकार के लाभ पहुंचा सकता था। उनको धर्म की ओर भी प्रवृत्त कर सकता था।

आखिर उसके अनेक जन्मो की तपस्या, उसके स्वाध्याय और मनन, उसकी योग-साधना के पुष्पित होने के दिन भी आये। उसके चेतनाकाश को वितृष्णा की उषा ने आभास्वर किया और फिर ज्ञान का अरुणोदय फूटा। फलत. अबतक की विचार-धारा की दिशा ही बदल गई। उसको ऐसा प्रतीत हुआ कि जिसको वह अबतक परम लक्ष्य समझे हुआ था, वह लक्ष्य का अध.स्वस्तिक[1] था, जिसे वह आनन्द मान रहा था, वह वस्तुतः आनन्द का कल्पित आभास था। पुण्य और लोकसग्रह के प्रलोभन मे वह मरीचिका के पीछे दौड़ रहा था और इस यात्रा का कभी अन्त नही होनेवाला था। अकेले उसकी ही यह दशा नही थी। कीट-पतग से लेकर बड़े-से-बड़े देव तक, सब इसी जाल मे फंसे हुए थे। बेड़ी लोहे की हो या सोने की, है तो बेड़ी ही। इस दृष्टि से ब्रह्मा से लेकर चीटी तक, सबकी अवस्था एक जैसी है।

---

[1] आकाश के सबसे ऊंचे बिन्दु को ऊर्ध्वस्वस्तिक और उससे उलटे सबसे नीचे बिन्दु को अधःस्वस्तिक कहते हैं।

मनुष्य की बात जाने दी जाय, देवगण जीवों के हित-साधन मे निरन्तर लगे रहते है। दूसरों को ऊपर उठाना इनका चरम ध्येय रहता है। परन्तु कोई किसीको अपने से ऊपर नही उठा सकता। और फिर, वे इस परार्थ साधन की शक्ति मे विरहित होना तो पसन्द ही नही करते। उनकी अमर सत्ता है, पर यह अमरता तो सापेक्ष है। एक दिन उनकी तपोजनित शक्ति का भी क्षय होता ही है।

सहायता करनेवाला अपने कृपाभाजन के निकट आता है, इस निकट आने से दोनो मे एक प्रकार का तादात्म्य हो जाता है, 'स्व' का विस्तार होता है। परन्तु यह अनुभूति क्षणिक होती है। इस अनुभूति के लिए यह आवश्यक है कि एक कृपा करनेवाला हो, दूसरा कृपा-पात्र हो। परार्थ साधन होना द्वैत की सत्ता पर ही निर्भर है। यदि द्वैत भावना न हो, यदि ऐसे सत्व न हो, जिन पर उपकार किया जा सके, तो देवो का जीवन भी सारहीन प्रतीत होने लगे, उनको अपने मे ही खोखलापन जान पडे। महत्ता अल्पता के सहारे जीती है और जो बात देवो के लिए कही जा सकती है, वही इतर जीवो के लिए भी सत्य है। इस संसार की आधारशिला द्वैतबुद्धि है।

और इस आधारशिला का आधार क्या है ? कुछ भी नही। द्वैतमूलक यह दृश्यमान संसार उतना ही सत्य और उतना ही असत्य है, जितना कि रज्जु में प्रतीयमान सर्प। दोनो का बीज अविद्या है। जबतक अविद्या है, तबतक मैं-पर की द्वैत बुद्धि रहेगी, रागद्वेष रहेगा, अपने पृथक अस्तित्व की अखंडता के लिए अभिनिवेश रहेगा, कुछ-न-कुछ वासना रहेगी, संसार रहेगा। तर्क

द्वैत का खंडन करता है, निरुद्ध चित्त मे उसका क्षय हो जाता है। जब थोडी देर के लिए एक 'स्व' दूसरे में तदात्म हो जाता है तो भी द्वैत का तिरोधान हो जाता है। परन्तु विडम्बना यह है कि परमोच्च गति प्राप्त करके भी द्वैत से ऊपर उठने का प्रयत्न बहुधा नही किया जाता, द्वैत-भावना हठात् स्थिर रखी जाती है, और कुछ नही तो जीव और ईश्वर के कल्पित भेद को दृढ करके, इस आसुर-बुद्धि को अक्षत रखा जाता है और इस प्रकार अपने 'स्व' को उसके वास्तविक रूप से ओझल रखकर आत्मा का हनन किया जाता है और अविद्या अपनी इस विजय पर हँसती है।

यह सोचते हुए उसके मुंह से निकल पड़ा :

> असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
> तांस्ते प्रेत्याभिगच्छंति, ये के चात्महनो जनाः ॥[1]

---

१ यह यजुर्वेदीय ईशोपनिषद् का तीसरा मंत्र है। शांकर भाष्य के अनुसार इसका अर्थ है :

अद्वय भाव की अपेक्षा से देवादि भी असुर हैं और उनके लोक भी असुर्य हैं। वे आत्मा के अदर्शन रूपी अविद्या के घोर अन्धकार से आवृत्त हैं। मरकर उन लोगों को, जो आत्मा का हनन करते हैं, अर्थात् जो विद्याविहीन हैं और विद्यमान आत्मा का तिरस्कार करते हैं, वे लोक प्राप्त होते हैं। ऐसे लोग अपने कर्मों के अनुसार एक से दूसरे आसुर-लोक में संसरण करते रहते हैं।

...धीरो हर्षशोकौ जहाति ...

७ | ...धीरो हर्षशोकौ जहाति

उद्दालक का जन्म बड़े प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल मे हुआ था। घर पर तो लोग उनको 'गौतम' कहकर पुकारते थे, परन्तु समाज मे उनकी प्रसिद्धि वाजश्रवा नाम से थी। वाजश्रवा उस व्यक्ति को कहेगे, जिसकी ख्याति वहुत अन्न का स्वामी होने के कारण हो। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उद्दालक वहुत धनी व्यवित थे, यो तो ब्राह्मण के लिए उच्छ वृत्ति प्रशस्त मानी गई है। जो लोग इस वृत्ति को ग्रहण करते है, वे धन या अन्न का सग्रह नही करते, खेतो या वाजारो मे अन्न के गिरे-पड़े कणो को वटोर लाते है, वह भी तीन दिन से अधिक के लिए नही। वस, इसी प्रकार अपना और परिवार का भरण-पोषण करते है। परन्तु सब ब्राह्मण इस प्रकार का तपस्वी जीवन नही विताते थे। उनमे कुछ महाशाल, वडे गृहस्थ, सम्पन्न नागरिक भी होते थे। ऐसे ही लोगो मे उद्दालक की गणना थी।

उनके पास धन था, पर विद्या भी थी, तप भी था। ऋषि-समुदाय के वीच मे रहते थे, प्राचीन आर्य परम्पराओ से जीवन ओत-प्रोत था। काल पाकर उनमे वैराग्य जागा। चित्त मे यह

विचार उठा कि यह सब धन लेकर क्या होगा। इसका उपयोग तो यही है कि जो दीन और दुखी है, उनमे बांट दिया जाय। उन्होने सर्वजित यज्ञ करने का निश्चय किया, जिसमें अपना सर्वस्व दान कर दिया जाता है। दक्षिणा में दस सहस्र गऊ देने का संकल्प किया।

आज से चार-पाच सहस्र वर्ष पहले सम्भवत: गौए कुछ अधिक सुलभ रही होंगी। फिर भी दस हजार बड़ी संख्या होती है। यदि इतनी गौएं मिल भी जाय तो सब अच्छी हो, यह बहुत कठिन होगा। उद्दालक को जो गौएं मिली, उनमे बहुत-सी 'जग्धतृणा, पीतोदका, दुग्धदुहा और अनिन्द्रिया' थी, अर्थात् इतनी बूढी थी कि उनके तृण खाने के, जल पीने के, दूध देने के और बच्चे देने के दिन कब के जा चुके थे।

ये सब बाते उनका लड़का नचिकेता देख रहा था। था तो वह अभी लड़का ही, परन्तु उसकी बुद्धि बडी प्रखर थी। उसके चित्त मे धर्मबुद्धि जागी। उसने सोचा, पिताजी ने गौओ की संख्या तो पूरी कर ली, पर इन गौओं को दान करके उनको भला क्या पुण्य होगा? वह इस बात को पिता के सामने रखना चाहता था, पर कैसे कहे? बड़ो को धर्म का उपदेश कैसे दिया जाय? परन्तु समय जा रहा था। अन्त मे उसने पिता को अप्रत्यक्ष रूप से संकेत करना उचित समझा। उनसे नम्रता से पूछा, "इस यज्ञ मे तो अपनी बहुत प्यारी वस्तुए दान में दी जाती है। मै तो आपका प्यारा पुत्र हूं। मुझे किसको देंगे? पिता ने या तो प्रश्न सुना नही या लड़के की नासमझी मानकर चुप रह गये। थोडी देर प्रतीक्षा करके नचिकेता ने फिर वही प्रश्न पूछा। पिता

फिर भी उसकी बात अनसुनी कर गये। तीसरी बार फिर वही प्रश्न पूछा गया। उद्दालक को क्रोध आ गया। वह झल्लाकर बोल उठे, "जा, तुझे यम को देता हू।"

उनके मुह से शब्द निकले तो क्रोध मे,परन्तु थे बहुत तपस्वी ब्राह्मण। उनकी वाणी मे क्रियाफलाश्रयित्व था, अर्थात् मुह से जो बात निकल जाय, वह होकर रहती थी। इधर वह चुप हुए, उधर नचिकेता यम के द्वार पर सदेह पहुच गया। इस बात से उद्दालक को जो मार्मिक कष्ट हुआ होगा, उसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है, पर अब वह कर भी क्या सकते थे। छूटा हुआ तीर लौटाया नही जा सकता।

जिस समय नचिकेता वहा पहुचा, धर्मराज घर पर न थे। साधारणत उनके होने-न-होने से वहा के काम मे कोई बाधा नही पडती थी। उनके सहायक चित्रगुप्त आदि सारा काम सभाल लेते थे, परन्तु जो व्यक्ति मरे बिना ही सदेह पहुच जाय, उसका क्या किया जाय, स्यात् किसीकी समझ मे नही आया। किसीने उसका कोई सत्कार नही किया। तीन दिन बाद यम लौटे। नचिकेता का वृत्त जानकर बहुत दुखी हुए। मै गृहस्थ हू, मेरे द्वार पर ब्राह्मण-कुमार तीन दिन तक अन्नजल के बिना रह गया, यह तो मेरे लिए लज्जा की बात है और फिर पाप भी है। इसका एक ही प्रायश्चित्त हो सकता है। उन्होने नचिकेता से कहा, "तुम मुझसे तीन वर माग लो।"

नचिकेता ने जो पहला वर मागा, वह सर्वथा स्वाभाविक और बालोचित था। उसने कहा कि मेरे पिता का क्रोध शान्त हो जाय और मेरे लौटने पर वह मुझसे फिर पूर्ववत् स्नेह करने

लगे। इसके लिए 'तथास्तु' कहने में यम को कोई कठिनाई नहीं हुई। उन्होंने अविलम्ब मान लिया।

नचिकेता ऋषियों के बीच मे पला था। उनकी बातें सुनता रहता था। उसका दूसरा वर उस मनोवृत्ति का परिचय दे रहा था, जो उसमें इस प्रकार के सत्संग से उत्पन्न हुई थी। उसने कहा, "मुझे कोई ऐसा यज्ञ बतलाइये, जिससे स्वर्ग की प्राप्ति हो, परन्तु यज्ञ ऐसा होना चाहिए, जिसे अबतक कोई न जानता हो।" यम ने बालक की यह बात भी मान ली। इतना ही नहीं, उन्होंने प्रसन्न होकर यह भी आशीर्वाद दिया कि इस यज्ञ को तुम्हारे नाम पर 'नचिकेताग्नि' कहा करेंगे। उन्होने उसका पूरा ब्यौरा नचिकेता को समझा दिया, "नचिकेता, इस अग्नि के द्वारा अनन्त लोक की प्राप्ति होती है। जो इसका अनुष्ठान करेगा वह मृत्यु के पाश को तोडकर और शोक के पार जाकर स्वर्ग-लोक में आनन्द करेगा।"

नचिकेता ने पहला वर अपने लिए मांगा था और यह दूसरा वर उन लोगों के हित के लिए जो धर्म-मार्ग का अनुसरण करके परलोक में उत्तम गति को प्राप्त करना चाहते है।

उसका अन्तिम वर गूढ और गम्भीर था। उसने यम से आत्मा के विषय में जानना चाहा। आत्मा क्या है? उसका स्वरूप क्या है? वह कहां से आता है? कहां जाता है? यम ने पहले तो टालना चाहा। उन्होंने कहा, यह विषय दुर्बोध है, देव-गण भी इसको ठीक-ठीक नही समझ पाते, तुम कोई और वर मागो। परन्तु नचिकेता दृढप्रतिज्ञ था। उसने कहा, जो विषय इतना दुर्बोध है कि देवगण को भी उसके सम्बन्ध में विचिकित्सा

नाभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये,
न त्वा कामा बहवोऽलोलुमन्त ।[1]

श्रेय (आत्मा के लिए कल्याणकारी) और प्रेय (प्रिय लगने वाला) एक-दूसरे से भिन्न है और यह मनुष्य को भिन्न दिशाओं में ले जाते है। श्रेय को ग्रहण करनेवाले का भला होता है। जो प्रेय का वरण करता है, वह परमार्थ को खो देता है।

तू प्रिय रूपी और प्रिय वस्तुओं को चित्त में नहीं लाया, वरन् उनका परित्याग कर दिया।

तुझको प्रिय पदार्थो ने लोभ में नही डाला, इसलिए हे नचिकेता, मै तुझे विद्या की इच्छा रखनेवाला, सच्चा जिज्ञासु, मानता हूं।

यम ने नचिकेता को फिर भी सावधान करना उचित समझा। जिस मार्ग पर चलना है, वह बहुत ही कठिन है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन

यह आत्मा न किसी के प्रवचन से प्राप्त होता है, न तीक्ष्ण बुद्धि की पकड़ में आता है, न बहुत-से शास्त्रों को देखने से जाना जाता है।

तब फिर उसके जानने का क्या उपाय है ? यम ने इस बात को थोड़े शब्दो में यों इंगित किया :

तं दुर्दर्शं गूढ़मनुप्रविष्टं,
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

---

१. कठोपनिषद

अध्यात्मयोगाधिगमेन देव,
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥[१]

उस दुर्दर्श गूढ, अगाध गहराई मे प्रविष्ट, हृदय की गुफा मे स्थित, सनातन, प्रकाशस्वरूप, आत्मा को अध्यात्म योग के द्वारा पहचानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक का परित्याग करता है।

यह अध्यात्म योग ही वह राजमार्ग है, जो जिज्ञासु को आत्म-साक्षात्कार तक ले जाता है। इस यात्रा का पहला भाग वह है, जिसे आजकल यम और नियम कहा जाता है। यम के शब्द ये है .

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहित:।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥[१]

जो दुश्चरित से विरत नही है, जो अपनी इन्द्रियो के वशीभूत है, जिसका चित्त विपयो के पीछे दौडता रहता है, वह उस प्रज्ञा को प्राप्त नही कर सकता, जिसके द्वारा आत्मा का साक्षात्कार होता है।

वैराग्य और यमनियमादि से सम्पन्न करके यम ने नचिकेता को 'योगविधि च कृत्स्न'—(सम्पूर्ण योगविधि की) शिक्षा दी। चित्त को एकाग्र करने के लिए धारण का अभ्यास करना होता है और धारणा के लिए सहारा चाहिए। इस सम्वन्ध मे उन्होने यह उपदेश दिया :

सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति,

---

[१] कठोपनिषद

यदिच्छंतो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्तेपदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा, यो यदिच्छति तस्य तत् ।।
एतदालम्बनं श्रेष्ठं, एतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा, ब्रह्मलोके महीयते ।।[1]

सारे वेद जिस पद की व्याख्या करते है, जिसका वर्णन सभी तपस्वी करते है, जिसकी इच्छा से लोग ब्रह्मचर्य का पालन करते है, उस पद को मै तुमसे संक्षेप मे कहता हूं :

वह पद 'ऊं' है।

निश्चय ही यह अक्षर ब्रह्म है, यह अक्षर सबसे ऊंचा है। इस अक्षर को जानकर मनुष्य जो इच्छा करता है, वह पूरी होती है।

यह आलम्बन (सहारा) श्रेष्ठ है, यह आलम्बन सबसे ऊंचा है, इस आलम्बन को जानकर मनुष्य ब्रह्मलोक में प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है।

योगाभ्यास किसी भी अवस्था में सरल काम नही होता। मतवाले हाथी को अंकुश मे रखना सुकर है, परन्तु चित्त को क्षण-भर के लिए भी निश्चल रखना बड़ा कठिन काम है। इस पथ पर चलना 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' अर्थात् छुरे की तीखी धार पर चलने के समान है। और फिर दोनों ओर गहरी खाई है। एक ओर तो प्रमाद के कारण असफलता का डर है,

---

[1] कठोपनिषद

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः
प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ।।
लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं,
वर्णप्रसादंस्वरसौष्ठवं च ।
गंधः शुभोमूत्रपुरीषमल्पं ।
योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ।।[१]

योगाभ्यास आरम्भ करने पर पहले कुहरा, धुआं, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, विद्युत, स्फटिकमणि और चन्द्रमा का अनुभव होता है। ये सब रूप ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराते हैं। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश के समुत्थित होने पर अर्थात् पंच-महाभूत के क्रमशः अनुभव होने पर, अभ्यासी को योगाग्निमय शरीर प्राप्त होता है। न उसको रोग होता है, न बुढ़ापा, और मृत्यु वश में हो जाती है।

शरीर में हल्कापन आता है, आरोग्य की अवस्था रहती है, विषयों की ओर से वितृष्णा हो जाती है। शरीर कान्तिमान हो जाता है, स्वर में माधुर्य आ जाता है और देह से सुगन्ध निकलती है, मूत्र और पुरीष की मात्रा कम हो जाती है। यह योग की पहली सिद्धि है।

ये कुहरा, जुगनू, तारा, आदि उपलक्षण मात्र है। ज्यों-ज्यों अभ्यास में प्रौढ़ता आती है, त्यो-त्यों इस जगत् के नानात्व का, इसके असख्य गंधों, रसों, रूपो शब्दों का अनुभव होने लगता है और इसके रहस्य समझ मे आने लगते हैं। ये सब अनुभूतियां

---

[१] श्वेताश्वतर उपनिषद

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं, मत्वा धीरो न शोचति ॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥
मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन ।
मृत्योः, स मृत्युं गच्छति, य इह नानेव पश्यति ॥
नित्यो नित्यानां, चेतनश्चेतनाना-
मेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥
इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥[1]

---

[1] कठोपनिषद

जो शरीरो में अशरीरी है, अस्थिरों में स्थिर है, सबसे बड़ा अर्थात् सर्वव्यापी और सार्वकालिक है, ऐसी आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोच से मुक्त हो जाता है।

वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध से परे है, अव्यय अर्थात् एकरस है, अनादि और अनन्त है, बुद्धि से अग्राह्य है, अपरिवर्तनशील है, उसको जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से छूट जाता है, यही केवल अनुभवगम्य है, कही भी नानात्व नही है, वह एक और अद्वय है। जिसको नानात्व की प्रतीति होती है, वह बार-बार जन्म लेता और मरता है।

जो अनित्यो मे नित्य है, जो चेतनों मे चेतना है, जो नानात्व के भीतर एक है, जो चित्त की वृत्तियो का कारण है, आत्मा में स्थित उस तत्त्व का जो धीर पुरुष साक्षात्कार करते है, उनको ही शाश्वत शान्ति मिलती है, दूसरो को नही।

शरीर छूटने के पहले उसको जान सके तो कल्याण होगा, अन्यथा बार-बार नाना शरीरो में जन्म लेना होगा।

श्रवण, मनन, निदिध्यासन—सत्संग, विचार और योगाभ्यास—का परिणाम अवश्यम्भावी होता है। चित्त के कषाय दूर हो जाते है, समाधि की सर्वोच्च भूमि, निर्विकल्प समाधि में प्रवेश होता है और विद्या का पूर्ण प्रसाद प्राप्त होता है। पहले नानात्व सिमिटकर दृश्य रूप से परमात्मा, अपरब्रह्म, अवशिष्ट रहता है और द्रष्टा में झीनी अस्मिता मात्र (अस्मि—मै हूं, प्रतीति की सतत धारा) रह जाती है और फिर शुद्ध ब्रह्म का साक्षात्कार होता है, उससे अभेद की प्रतीति होती है, अपने स्वरूप में स्थिति होती है। अभेदभावना को 'अहं ब्रह्मास्मि' कह-

र[illegible] किया जा सकता है, परन्तु वस्तुत वह ज्ञान "अवङ्-मनसअगोचर"—इन्द्रिय, वाणी और बुद्धि के बाहर है। उस परम पद तक पहुंचते-पहुचते सारी शकाएं स्वत दूर हो जाती है, विद्या के प्रकाश मे अज्ञान और भ्रान्ति की तमिस्रा आप-से-आप नष्ट हो जाती है।

भिद्यते हृदय ग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्व संशया:।
क्षीयन्ते चास्यकर्म्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥

उस परावर, उस ब्रह्म के साक्षात्कार होने पर, हृदय की गाठ खुल जाती है, सब सशयो का छेदन हो जाता है और सब कर्मो का क्षय हो जाता है। कर्मो के क्षय होने से पुनर्जन्म और पुनर्मरण का प्रश्न ही नही उठता। न उसके लिए कोई विधि-निपेध का बन्धन रह जाता है, न करणीय-अकरणीय की रोक-टोक। ऐसे व्यक्ति की अवस्था निरन्तर धर्ममेघ समाधि की रहती है। जिस प्रकार बादल से निसर्गत जल बरसता है, उसी प्रकार उससे निसर्गत धर्म की वृष्टि होती रहती है। यह अवस्था प्रत्येक ऐसे जिज्ञासु की—'अन्योपि य एवं वेद'—होगी, जो सद्-गुरु के चरणो मे बैठकर अध्यात्म योग के मार्ग पर चलेगा। उस पद को प्राप्त करके जो आनन्द और ज्ञानमय स्थिति होती है, उसका कुछ अभिव्यजन इन शब्दो से होता है ·

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य. पंथा विद्यतेऽयनाय॥
प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।
तस्य योनिम्परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन् हतस्थुर्भुवनानि विश्वा॥[1]

---

१ यजुर्वेद—३१, १८, १९

मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं, जो आदित्यवर्ण है और तम के पार रहता है। उसको जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण किया जा सकता है, मोक्ष के लिए कोई दूसरा मार्ग नही है। यहां आत्मा को महान् इसलिए कहा गया है कि वह दिक और काल के सभी अवच्छेदों से परे है तथा सभी विशेषणो से अनवच्छिन्न है। इसीलिए उसके लिए नेति-नेति (यह नही, यह नही) कहा जाता है। तम से तात्पर्य अविद्या से है। इसीलिए आत्मा को आदित्यवर्ण कहा है। उसका कोई रूप और रंग नही है, वह ज्ञान के प्रकाश से युक्त है। उसको जान लेने पर जन्म-मरण की पर-म्परा समाप्त हो जाती है। आत्मा और ब्रह्म अभेद के कारण यह वाक्य ब्रह्मपरक भी हैं और आत्मपरक भी।

प्रजापति गर्भ में आता है। अजन्मा होकर भी बहुधा जन्म लेता है। उसकी योनि को, जिसमे सब भुवन निश्चय ही स्थित है, धीर लोग सम्यक रूप से देखते है।

इस मत्र के पूर्वार्द्ध में अपर ब्रह्म और उत्तरार्द्ध मे परब्रह्म की ओर संकेत है। परमात्मा ही प्रजापति है। महाप्रलय के बाद जब जीवो के प्रसुप्त सस्कार फिर उद्‌बुद्ध होते है तो परमात्मा क्षुब्ध होता है। उसमे 'एकोऽहं बहुस्याम' (मैं एक हूं, अनेक हो जाऊं) यह भाव उत्पन्न होता है। पहले भावी जगत उसमे विचार रूप से उदय होता है, फिर वह विचार नाना रूपों में मूर्त होता है। समस्त जड़-चेतन का मूल और आगार होने से पर-मात्मा को प्रजापति कहते हैं। वह वस्तुतः अजर, अमर, अक्षर है, परन्तु अज्ञान से आच्छादित बुद्धि मे वह अनेक दीख पड़ता है और देव, असुर, मानव, तिर्यक, वनस्पति, पर्वत आदि अनेक